वेद मीमांसा

सूत्रकार एवं भाष्यकार

आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित

भूमिका लेखक

डा० सत्यव्रत शास्त्री

आचार्य, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली ; (भारत)

पदवाक्यप्रमाणज्ञ
श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
की पुण्य स्मृति में
सादर समर्पित

विषय सूची

भूमिका

आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित रचित वेदमीमांसा पुस्तक का परिचय विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। डा० दीक्षित वेद के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। अपने अत्यन्त व्यस्त प्रशासनिक जीवन से भी इन्होंने निरन्तर वेदपरिशीलन के लिये समय निकाला, यह इनकी वेद के प्रति अपार आस्था का परिचायक है।

वेद का अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में अत्यधिक महत्त्व रहा है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने इसे साक्षात् ब्रह्म का रूप कहा है—तस्य वेदोऽनुकारश्च एवञ्च इसे उसकी प्राप्ति का उपाय, प्राप्त्युपायश्च, बताया है। इसे धर्म का मूल कहा गया है, वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। आस्तिकता और नास्तिकता को आंकने का मापदण्ड भी वेद की स्तुति और निन्दा पर आधारित रहा है—नास्तिको वेदनिन्दकः, वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है, अर्थापत्ति से इसका अभिप्राय है कि जो वेद की निन्दा नहीं करता वह आस्तिक है।

क्योंकि भारतवासियों ने वेदों के महत्त्व को पहिचाना था इसलिये उसकी सुरक्षा के लिये जितने भी उपाय वे कर सकते थे, उन्होंने किये। अनेक प्रकार के घनपाठ, जटापाठ, क्रमपाठ आदि पाठ पढ़ने की पद्धतियां, उन्होंने इसकी प्रचलित कीं। आशय उनका था इसके मूल स्वरूप को सुरक्षित करने का। इसके एक स्वर या वर्ण तक की त्रुटि भी उन्हें सह्य नहीं थी—एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो यजमानं हिनस्ति। जैसा इसे गुरुजन से सुना ठीक वैसा ही इसे उच्चारण करने का अविच्छिन्न प्रयास किया जाता था। श्रवण परम्परा इसका सर्वोत्तम उपाय थी। इसलिये इसके लिये उसे ही अपनाया गया। इसी कारण वेद श्रुति बन गये। लिखित रूप में वेदों का प्रचलन बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। लेखकों के प्रमाद के कारण वेदों का पाठ कहीं अधिक भ्रष्ट हो सकता था। जिन्हें पाण्डुलिपियों के संस्करण सम्पादन का अनुभव है उन्हें ज्ञात है कि उनमें कितनी तरह का पाठभेद पाया जाता है। यही कारण सम्भवतः रहा होगा कि लेखन कला का अति प्राचीन काल से ज्ञान होने पर भी प्राचीन भारतीयों ने वेदों को लिपिबद्ध न कर श्रवण परम्परा से ही

उसे बाद की पीढ़ियों को संक्रमित किया। समय बीतते बीतते इस श्रवण परम्परा के लिये कतिपय घराने विशिष्ट रूप से निर्धारित हो गये। उनमें से किन्हीं ने दो बेदों पर विशेष परिश्रम किया, किन्हों ने तीन पर, किन्हीं ने चारों पर। वे ही बाद में द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी कहलाये।

आज जब कि वेद मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं अनेक वेदपाठी इसकी युग-युग पुरानी श्रवण अथवा मौखिक परम्परा का पालन करते हैं। उनके मुख में वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने इनका उच्चारण किया होगा। विश्व के इसी अद्भुत आश्चर्य को देखकर एक पाश्चात्य विद्वान् ने भावविभोर होकर कहा था कि यदि वेद की सभी की सभी मुद्रित प्रतियां नष्ट हो जायें तो भी इसे ब्राह्मणों के मुख से पुनः प्राप्त किया जा सकता है। वेद के नष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वेद की महनीयता को भारत ने स्वीकार किया। इसकी सुरक्षा का विश्व के इतिहास में अपने ढंग का अनूठा प्रयास किया। प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है : क्या यह केवल अन्धविश्वास ही था? या इसकी पृष्ठभूमि में कोई गहन चिन्तन था। केवल अन्धविश्वास के आधार पर कोई भी मान्यता निरवधिक काल के लिए नहीं टिक सकती। मनन-चिन्तनशील मानव उसकी परीक्षा किसी न किसी काल खण्ड में करना चाहेगा ही और जब उसे उसकी मान्यता थोथे अन्धविश्वास पर आधारित लगेगी तो उसे स्वीकार न कर पाने में उसे विवशता का आभास होने लगेगा। आश्चर्य इस बात का है कि भारत के चिन्तनशील मानव को जिसने बना दर्शनों को, ऊहापोहों को, जन्म दिया यह आभास हुआ नहीं। लगता है, अतिप्राचीन पीढ़ियों को वेदार्थ सुस्पष्ट था। अतः उसकी महनीयता भी उनके लिये सुस्पष्ट थी। यही कारण है कि किसी को भी वेदों पर भाष्य लिखने की तन आवश्यकता अनुभव न हुई। कुछ भाषा का अन्तर। कुछ परम्पराओं का। समय बीतते बीतते यह अर्थज्ञान धूमिल होता गया। बाद की पीढ़ियों में पढ़ने के प्रति आसक्ति भी कम होती गई—अवरेऽध्ययनाय ग्लायन्तः (यास्क)। फलतः वेदों के अर्थ में सन्देह ने जन्म लिया। याज्ञिक प्रक्रिया की जकड़न ने भी इसमें योगदान दिया। आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों के स्थान पर आधिभौतिक अर्थों को प्रश्रय मिलने लगा। बेद दुरूह लगने लगे। मध्ययुग के कतिपय आचार्यों ने उनका अर्थ करने का प्रयास किया। हाल ही में इधर अनेक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने सायणादि भाष्यकारों के आधार पर अथवा तुलनात्मक भाषाशास्त्र एवञ्च देवशास्त्र अथवा निजी उद्भावनाओं के आधार पर वेदों के अर्थ किये। उन्हें इनका कुछ विशेष समझ में आया नहीं और वेद गडरियों के गीत बन गये। अनेक भ्रान्तियां वेदों के विषय में चल निकलीं। उन्हीं भ्रान्तियों के निराकरण के रूप में प्रस्तुत वेद मीमांसा पुस्तक लिखी गई है। ग्रन्थकार ने इसमें सूत्रशैली को अपनाया है।

प्रत्येक सूत्र के नीचे हिन्दी में उसकी विस्तृत व्याख्या दे दी गई है । प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिकता प्रदान करने हेतु विद्वान् लेखक ने प्राचीन ग्रन्थों से नाना प्रमाणों को उद्धृत किया है ।

वेदमीमांसा लेखक के वर्षों के गहन अध्ययन एवम् अनुसन्धान का परिणाम है । इसमें पाश्चात्य एवं तदनुयायी भारतीय वेदालोचक विद्वानों के मतों की तीव्र आलोचना की गई है एवञ्च सही भारतीय मत को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है । वेदमीमांसा वेद के अध्ययन अनुसन्धान की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है । मुझे पूर्ण विश्वास है कि वेद के प्रेमी विद्वानों तथा अनुसन्धित्सुओं द्वारा इसका समुचित स्वागत होगा एवञ्च डा० दीक्षित की सशक्त लेखनी इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ रत्नों से भारतीय विद्या विषयक वाङ्मय को और भी अधिक समृद्ध बनाती चलेगी ।

सत्यव्रत शास्त्री
पण्डितमनमोहननाथदर
संस्कृतपीठाचार्य,
भूतपूर्व कलासङ्कायाध्यक्ष
दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली
११ जून, १९८०

पुरोवाक्

पाश्चात्य-पौरस्त्य एवं प्राचीन-अर्वाचीन मनीषियों ने वेदों को विभिन्न दृष्टियों से देखा है। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियां हैं। मैक्समूलर के शब्दों में "A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace." (Chips from a German Workshop, Ed. 1866, p.27) अर्थात् वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निकृष्ट और साधारण है। उनमें न परस्पर संगति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना। वेद धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानवजाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं उसी की छाया मन्त्रों में है। इसी सूत्र को पकड़ कर पिछले सौ वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये। अपने देश में भी उनके मानसपुत्र वैदिक विद्वान् इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं। उनके लिये ब्राह्मण ग्रन्थों, निरुक्त आदि में की गई वेदव्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। काशीनाथ राजवाड़े ने अपने निरुक्त की भूमिका में लिख डाला—

"The Nirukta method is a strange one. It hardly deserves the name of शास्त्र or science......It is not a science, but travesty of science......I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd......Number of etymologies in Nirukta seem senseless...... derivations are really inventions." (pp. 41-43)

अर्थात् निरुक्त का ढंग इतना विचित्र है कि इसे शास्त्र या विज्ञान का नाम नहीं दिया जा सकता······निरुक्त विज्ञान नहीं, विज्ञान का मजाक या हंसी है ·······मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि निरुक्त की निर्वचन विधि बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) है। बहुत से निर्वचन निरर्थक अथवा मूर्खतापूर्ण हैं—गढ़े गये जान पड़ते हैं।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने काशीनाथ राजवाडे का प्रतिबाद करते हुए भी लिख दिया—

"Yāska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered, enslaved and crushed his imagination. Owing to this serious defect, he is driven, not only to superfluous

and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies," (Etymology of Yāska p.8)

अर्थात् यास्क को निर्वचन का इतना मोह था कि उसके इस पागलपन ने उसकी कल्पनाशक्ति को कुचल कर रख दिया था। उसके इसी दोष के कारण उसके निर्वचन न केवल व्यर्थ और अनावश्यक हैं, अपितु शिथिल दोषपूर्ण और भद्दे भी हैं।

पाश्चात्य विद्वानों और उनके उच्छिष्ट भारतीय विद्वानों की समझ में इतनी सी बात नहीं बैठी कि जब यास्क ने स्वयं कह दिया कि यहां (निरुक्त ४ से ६ अध्याय तक) 'अनवगतसंस्कार' शब्दों के निर्वचन का प्रकरण होने से, प्रकृति-प्रत्यय का बोध न होने के कारण, अर्थ-प्रकरणादि के आधार पर निर्वचन कर अर्थ दर्शाया है (तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्) तो यास्क पर इस प्रकार का आक्षेप करना स्वयं अपनी ही अज्ञानता का विज्ञापन करना है।

इसके विपरीत भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है "यद् भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति"। शब्द तत्त्व का वाचक होता है और तत्त्वज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। वेद में समस्त सृष्टि की निर्माण कला का विज्ञान निहित है। जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्रविशेष का अथवा एक वैद्य किसी ओषधि का निर्माण करता है और उसके वर्णनात्मक रूप में ग्रन्थ की रचना कर देता है तो दोनों में सामंजस्य होने पर यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचना हैं। वैसे ही वेद ब्रह्म का सिद्धान्त ज्ञान (Theory) है तो सृष्टि उसकी प्रयोगात्मक (Laboratory) रचना है। दोनों में पूर्ण सामंजस्य है।

वेदों के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन काल से प्रयास होता रहा है। वेदांगों तथा उपांगों आदि का प्रणयन भी इसी उद्देश्य से किया गया। वेदों के व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे गये। तथापि वेदभाष्य करने का यत्न नहीं किया गया। इसका एक कारण तो यह था कि वेदों के आविर्भाव काल तथा उसके पश्चात् भी पर्याप्त समय तक वेदों का अध्ययन अध्यापन बहुत कुछ मौखिक परम्परा के आधार पर ही होता रहा। ऋषि लोग परम्परा के आधार पर एक दूसरे को वेदार्थ का ज्ञान कराते रहे। वेदभाष्य न करने का दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि ऋषियों की निश्चित धारणा थी कि 'सर्वज्ञानमयो हि सः'—वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार हैं। अतः वेद की इयत्ता (चार विभागों में) नियत होने पर भी उसके अर्थों की इयत्ता का अवधारण नहीं हो सकता। अनन्ता वै वेदाः—वेद के ज्ञान की इयत्ता नहीं है। तब, अनन्त ज्ञानराशि को सीमित ज्ञान वाला मनुष्य अर्थों में निबद्ध कैसे

कर सकता था ? इसलिए वेदार्थ प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराने वाले ग्रन्थ तो लिखे गये । परन्तु समग्र वेदों का भाष्य करके वेदार्थ के निर्धारण का यत्न आर्यों ने नहीं किया । महर्षि यास्क जैसे मनीषी ने वेदार्थ के लिए मार्ग तो प्रशस्त किया परन्तु स्वयं एक भी वेद का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया । ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदार्थ का निर्देश अवश्य मिलता है परन्तु उन्हें वेदभाष्य नहीं कह सकते । अधिक से अधिक उन्हें वेदार्थोपबृंहक कहा जा सकता है ।

वेदभाष्य या वेदार्थ की परम्परा का उपक्रम तब हुआ जब लोगों को मौलिक उपदेश द्वारा वेदार्थ को समझने में असमर्थता अनुभव होने लगी । वेदार्थ करने वाले आचार्यों ने वेद को अपनी अपनी दृष्टि से देखा और उसी के अनुसार मन्त्रार्थ किया । यही कारण है कि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भी वेदमन्त्रों के अलग-अलग अर्थ किये ।

सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य, उद्गीथ, हरि-स्वामी, उव्वट, वररुचि, भट्टभास्कर, वेङ्कटमाधव, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ, शत्रुघ्न, माधव, गुणविष्णु, भरतस्वामी, देवपाल तथा आनन्दबोध के नाम उल्लेखनीय हैं । प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से वेदार्थ करने वाले ये भाष्यकार याज्ञिकवाद की कीली के चारों ओर घूमते रहे । त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ न करने का इन वेदभाष्यकारों का मुख्य कारण उनकी वेद के सर्वज्ञानमयत्व में निष्ठा का अभाव ही समझना चाहिये । फिर भी, सायण से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के वेदार्थ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यास्कादि आप्त ऋषियों के वेदार्थ के सिद्धान्तों की परम्परा न्यूनाधिक रूप में इन आचार्यों तक बनी रही । परन्तु धीरे-धीरे ह्रासोन्मुख होकर वह लुप्त-प्राय सी हो गई । शताब्दियों तक समस्त वैदिक साहित्य याज्ञिकवाद के इर्द गिर्द घूमता रहा । सायण के काल तक ऐसी स्थिति हो गई कि आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश करनें वाले मन्त्रों को भी पकड़ पकड़ कर बलात् यज्ञप्रक्रिया में घसीटा जाने लगा । इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मणादि वेद के व्याख्यान ग्रन्थों तक में प्रक्षेप कर उन्हें दूषित करने की चेष्टा की जाने लगी । यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजधर्म का प्रतिपादन करने वाले १९से३१ तक के मन्त्रों का इतना अश्लील अर्थ किया गया है कि वैसा करने पर महीधर स्वयं ग्लानि अनुभव कर ३२वें मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि "इस अश्लील भाषण के कारण जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यज्ञ फिर से सुगन्धित करदे" (अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि अस्माकं मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः) । मन्त्र में न अश्लील शब्द हैं और न मन्त्रों के अर्थों में कोई अश्लीलता है । स्वयं ही पहले जानबूझ कर अश्लीलता आरोपित करदी और स्वयं ही उस अपराध के लिये प्रायश्चित्त की बात कह डाली । शतपथब्राह्मण में भी वैसा ही अर्थ उपलब्ध है । परन्तु शतपथ

ब्राह्मण में ही अन्यत्र इस मन्त्र का अत्यन्त शुद्ध, युक्तियुक्त एवं उपादेय अर्थ भी उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि मांसभक्षण, मदिरापान, पशुबलि, गुप्तेन्द्रिय पूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिया गया। और उन्हें वेद की संज्ञा देकर अपनी मान्यताओं की वेद के नाम पर पुष्टि कर दी गई। क्या वेद इसी प्रकार के कुकृत्यों का प्रतिपादन करता है ? यदि इसका उत्तर 'हां' में है तो बुद्ध जैसे पवित्रहृदय महात्मा के स्वर में स्वर मिला कर लोग यही कहने को विवश होंगे कि हम ऐसे वेदों को नहीं मानते। परन्तु इसमें वेद का दोष नहीं है। दोष उस ऐनक का है जिसमें से देखने पर सब हरा ही हरा दिखाई पड़ता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा आरण्यकों के भाष्य किये। अन्य अनेक विषयों पर भी बहुत से प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे अथवा लिखवाये। उनके वेदभाष्य में व्याकरण आदि का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिये हम उन्हें साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकते। परन्तु मूलभूत धारणा के भ्रान्त होने के कारण उन्होंने स्वयं ही अपने किये कराये पर पानी फेर दिया।

'राजा कालस्य कारणम्'—शासन व्यवस्था का प्रभाव छोटे बड़े सभी पर पड़ता है। सायण विजयनगरम् राज्य में प्रधान मन्त्री थे। वह यज्ञप्रधान युग था और यज्ञों में हिंसा अनिवार्य मानी जाती थी। उसी के आधार पर उसने वेदभाष्य किया। कारण कुछ भी रहा हो, जब सायणाचार्य के मन में यह धारणा घर कर गई कि वेदमन्त्र यज्ञ प्रक्रिया का ही प्रतिपादन करते हैं और याज्ञिक अर्थ को ही कहते हैं तो यह स्वाभाविक था कि वह अपना समस्त बौद्धिक वैभव यज्ञप्रक्रिया के लिये समर्पित कर बैठते। त्रिविधप्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना चाहिये। पर सायणाचार्य ने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की परम्परा का परित्याग कर वेदमन्त्रों का केवल याज्ञिकप्रक्रियापरक ही अर्थ किया। कर्मकाण्ड की भंवर में फंसा रहने के कारण उसने वेदार्थविषयक मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना करके वेद के आशय को बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित साचे में ढालने की चेष्टा की जिससे प्रभु की पवित्र वेदवाणी का गौरव जाता रहा। अत्यन्त हृदयग्राही सन्तप्त हृदयों की आन्तरिक ज्वाला को शान्त कर आत्मससमर्पण द्वारा प्रभु प्रेम में असीम निष्ठा का अद्भुत दृश्य उपस्थित करने वाला ऋग्वेद (१-१-३) का मन्त्र है—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥

हे प्रियतम देव ! शरणागत का कल्याण करना तुम्हारा अटल नियम है।

मन्त्र के इस भावनापूर्ण अर्थ का दर्शन न करके सायण यजमान के लिये 'वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणम्' की प्रार्थना करते हैं, और वह भी जड़ भौतिकअग्नि से। वस्तुतः यज्ञ विषयक उपर्युक्त मिथ्या धारणा ने सायण को वेदमन्त्रों के यथार्थ तक पहुँचने ही नहीं दिया। महीधर आदि का भाष्य वाममार्ग के रंग में रंगा है। इन भाष्यों को पढ़ने के बाद किसी की वेद में श्रद्धा नहीं रह सकती और पढ़ने वाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमेश्वर की बुद्धिपूर्वक रचना है (बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे— वै.द.) या उसमें उत्कृष्ट भावनाओं, उच्च आदर्शों या ज्ञान-विज्ञान का प्रतिपादन है। वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करके संसार को वेद से विमुख करने में सबसे बड़ा हाथ सायण का रहा है। सायण का नाम बार बार इस लिये भी आता है कि वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों पर सबसे अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं। उन्हीं को लेकर आगे लोगों ने अनुवादादि का कार्य किया।

विदेशी विद्वानों को वेदविषय में सायण भाष्य का ही आश्रय मिला। उनका उद्देश्य ही भारतीय जनता में अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के प्रति अश्रद्धा और घृणा पैदा करना था। इस दृष्टि से उन्हें सायण का भाष्य अपने अनुकूल जान पड़ा। उन्होंने वेद तथा वैदिक वाङ्मय के जो अनुवाद अंग्रेज़ी में किये, वे सब सायण के आधार पर ही किये और वेदों को गडरियों के गीत या जंगलियों की बड़बड़ाहट सिद्ध करने में सफल हुए। यह ठीक है कि विदेशी विद्वानों ने भारतीय न होते हुए भी, संस्कृत साहित्य में, विशेषतः वैदिक वाङ्मय में, अनुकरणीय उद्योग किया। परन्तु जातीय पक्षपात तथा शास्त्रविषय में गहरा ज्ञान न होने से वे वैदिक साहित्य को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। विदेशियों ने जिस ध्येय को लक्ष्य में रख कर हमारे साहित्य में इतना घोर परिश्रम किया उसका पता मोनियर विलियम्स द्वारा अपनी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी की भूमिका में लिखे इन शब्दों से लग जाता है—

"That the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion."

भाव यह है कि मि. बोडन के ट्रस्ट द्वारा संस्कृत के ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देश (इंगलैंड) बासियों को सहायता पहुँचाने के लिये हो रहा है। यही मोनियर बिलियम्स अपनी पुस्तक 'The study of Sanskrit in relation to missionany work in India, (1861) में लिखते हैं।—

"When the walls of the mighty fortress of Hinduism are encircled, undermined and finally stormed by the Soldiers of the Cross, the victory of Christianity must be signal and complete."

भाव यह है कि मोनियर विलियम्स का सारा परिश्रम हिन्दुत्व को नष्ट करके भारत में ईसाइयत की पताका फहराने के लिये था।

संस्कृत के यूरोपियन विद्वानों में लार्ड मेकाले द्वारा नियुक्त प्रोफ़ेसर मैक्स-मूलर सर्वोपरि माने जाते हैं। उनके वेद के अनुसन्धान और अनुवाद कार्य में लगने का क्या उद्देश्य था, यह उन्होंने अपनी पत्नी के नाम लिखे एक पत्र में स्पष्ट किया है—

"This edition of mine and the translation of the Veda, will, hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."

(Life and Letters of Frederick Maxmuller. Vol. I, chap. xv, page 34)

अर्थात् मेरा यह संस्करण तथा वेद का अनुवाद भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है और उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हज़ार बर्षों में इससे उत्पन्न होने वाली सब बातों को मूल-सहित उखाड़ने का एकमात्र उपाय है।

भारत सचिव (Secretary of State for India) के नाम १६ दिसंबर १८६८ को लिखे अपने पत्र में मैक्समूलर ने लिखा—

"The ancient religion of India is doomed. Now, if Christianity does not step in, whose fault will it be?"

(Ibid. vol. I, chap. xvi, p. 378)

अर्थात् भारत का प्राचीन धर्म नष्टप्राय है। अब, यदि ईसाइयत उसका स्थान नहीं लेती, तो यह किसका दोष होगा?

मैक्समूलर के प्रयासों की सराहना करते हुए उनके घनिष्ट मित्र मिस्टर ई० बी० पुसे ने अपने एक पत्र में उन्हें लिखा—

"Your work will mark a new era in the efforts for the conversion of India."

अर्थात् आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवयुग लाने वाला होगा।

अपनी पुस्तक 'Religious and Philosophical system of the Hindus' के लिखने का उद्देश्य प्रो. विलसन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"These lectures were written to help candidates for a prize of £ 200 given by John Muir a great Sanskrit scholar, for the best refutation of the Hindu, religious system."

वस्तुतः इस सारे अनर्थ की जड़ मध्यकालीन भारतीय आचार्यों, विशेषतः सायण की वेदार्थ विषयक भ्रान्त धारणायें हैं। यदि इन विदेशी विद्वानों को सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता तो संभवतः वेद की ऐसी दुर्दशा न होती। पाश्चात्यों द्वारा प्रस्तुत वेदादि शास्त्रों का वह स्वरूप अवश्य ही न होता जो अब है। सायण के वेदार्थ ने सबकी आँखों पर पट्टी बांध दी। और अब राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो जाने पर भी पाश्चात्यों के भारतीय मानसपुत्रों की आंखों पर वह पट्टी अभी तक ज्यों की त्यों बन्धी है। भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध पोषक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी पुस्तक 'लोपामुद्रा' में वेदों के आधार पर प्राचीन आर्यों के विषय में लिखा—

"इनकी भाषा में अब भी जंगली दशा के स्मरण मौजूद थे। मांस भी खाया जाता था, और गाय का भी। 'अतिथिग्व' गोमांस खिलाने वाले की बहुमानास्पद उपाधि थी। ऋषि सोमरस पीकर नशे में चूर रहते और लोभ तथा क्रोध का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण सुरा पीकर नशा करते थे। वे जुआ खूब खेलते थे। ऋषि युद्धक्षेत्र में जाकर हज़ारों का संहार करते थे। वे रूपवती स्त्रियों को आकर्षित करने के लिये मन्त्रों की रचना करते थे। कुमारी से उत्पन्न बच्चे अधम पतित नहीं माने जाते थे। कई ऋषियों के पिताओं का पता न था। आर्य भेड़िये की तरह लोभी थे। वीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार न था। आत्मा का कोई खयाल ही नहीं था। ईश्वर की कल्पना नहीं, नाम नहीं, मान्यता नहीं, स्वदेश की कल्पना नहीं थी। दस्यु भारतवर्ष के शिवलिंगपूजक मूल निवासी थे।"

हमने जब पत्र लिख कर उनसे उन वेदमन्त्रों को उद्धृत करने का आग्रह किया जिनके आधार पर उन्होंने यह सब लिखा था तो उन्होंने अपने पत्र दिनांक २ फ़रवरी १९५० में लिख कर भेजा—

"I believe the Vedas to have been composed by human beings in the very early stage of our culture and my attempt in this book has been to create an atmosphere which I find in the Vedas as translated, by western scholars and as given in Dr. Keith's, Vedie Index. I have accepted their views of life and conditions of those times,"

अर्थात् मैं वेदों को संस्कृति के प्रारंभिक काल में मनुष्य द्वारा रचित ग्रन्थ मानता हूँ। मैंने अपनी पुस्तक में आर्यों के संबन्ध में जो कुछ लिखा है उसका आधार पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतः डा० कीथ द्वारा किया वेदों का अनुवाद है। मैंने उस समय के लोगों के जीवन और रहन सहन आदि के संबन्ध में उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है।

बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने अपने ग्रन्थ 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में लिखा है—"तिलक महोदय का मत (आर्यों के मूल स्थान के विषय के) संशोधन करने के लिये गत वर्ष जब हम उनके घर गये तो उन्होंने हमसे सरलतापूर्वक कह दिया—'आमि मूलवेद अध्ययन करि नाई। आमि साहिब अनुवाद पाठ करिया छे'। अर्थात् हमने मूलवेद नहीं पढ़े। हमने केवल साहब लोगों के अनुवाद पढ़े हैं।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् बाबू सम्पूर्णानन्द ने अपनी पुस्तक 'गणेश' में यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र 'गणानां त्वा···गर्भधम्' के उव्वट महीधरादि कृत भाष्य को और इससे होने वाले कृत्य को विचित्र और अश्लील मानते हुए और उसके द्वारा पुण्य की उपलब्धि में सन्देह करते हुए भी इन पक्तियों के लेखक के नाम अपने पत्र दिनांक १५ फ़र्वरी १९५१ में लिखा—"मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिक काल में मद्य मांस आदि का व्यवहार होता था। पशु बलि भी होती थी।"

सायण और उनके अनुगामी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के निरुक्त प्रक्रिया की उपेक्षा करके लौकिक संस्कृत के आधार पर वेदार्थ करने का यह दुष्परिणाम हुआ कि हम सभ्य संसार के सामने मुंह दिखाने योग्य न रहे। इतना ही नहीं, ब्राह्मण ग्रन्थों, शाखाओं, श्रौतसूत्रों आदि अनेकानेक संस्कृत ग्रन्थों को भी वेद मान कर समय समय पर उनमें हुए प्रक्षेपों सहित सब कुछ वेद के मत्थे मढ़ दिया। यौगिक अर्थों को न लेकर रूढ़ अर्थों के आधार पर उन्हें मनोरंजक किस्से कहानियों का पिटारा बना दिया। इस प्रकार हमारी मस्तिष्करूपी भूमि में वेदों के प्रति अश्रद्धा की पथरीली चट्टानें खड़ी हो गईं।

वेद का एक एक शब्द अपने पेट में न जाने कितने ज्ञात एवं अज्ञात अर्थों को धारण किये हुए है और फिर उन अर्थों के विशाल क्षेत्र में जितना विचरण करते चले जायेंगे, उत्तरोत्तर नवीन अर्थ और ज्ञान की उपलब्धि होती जायेगी। श्री अरविन्द के अनुसार सायण के साथ बंधे होने के कारण वैदिक शब्दों के वास्तविक अर्थों से अनभिज्ञ होने के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वान् विकासवाद के खूंटे से भी बंधे थे। यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन शक्ति के साहचर्य से होता है, तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है। वेद की ध्वनि अपने आदिस्रोत परमेश्वर से निःश्वसित होकर परा, पश्यन्ती तथा मध्यम मार्गों से होती हुई वैखरीरूप में हमें प्राप्त हुई। जिन ऋषियों के माध्यम से वह हम तक पहुँची वे उसके रचयिता न होकर अभिव्यंजक मात्र थे। अनादि काल से मनुष्य वेदरूपी ज्ञान के निरतिशय एवं अक्षय कोष से अपनी बुद्धि की ज्ञान प्राप्त करने की चेतना अथवा शक्ति के अनुसार ग्रहण करता रहा है। विकासवाद को मानने वाले वेदज्ञान के अनादित्व के सिद्धान्त को कैसे स्वीकार कर

सकते हैं ? सुदूर अतीत में भारतीय आर्यों को एक अत्यन्त सभ्य, संस्कृत तथा ज्ञान-विज्ञान में अत्यधिक उन्नत जाति अथवा समाज के रूप में देखने में उनका जातीय पक्षपात भी आड़े आता है।

भारतीय मन्तव्य तथा गणना के अनुसार वर्त्तमान सृष्टि को बने हुए १,६७, २६, ४६० ७६ वर्ष हो चुके हैं। वेदों का उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) काल भी आर्यों में यही माना जाता है। वेद को मनुष्य जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हुए भी, पाश्चात्य विद्वान् और इन्हीं की लीक पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेद को इतना प्राचीन मानने के लिए तैयार नहीं है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत वेद का काल निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

मैक्समूलर-मैक्डोनल-कीथ	-१४००	वर्ष ईसापूर्व
हाग-ह्विटनी-विल्सन-ग्रिफ़िथ	-२०००	,, ,,
जैकोबी	-४०००	,, ,,

भारतीय विद्वान् वेद का काल पाश्चात्यों की अपेक्षा अधिक पीछे ले जाते हैं। लोकमान्य तिलक के मत में वेदों का प्रादुर्भाव ६००० वर्ष ईसापूर्व में हुआ। पावगी महोदय ने अपनी Vedic Fathers of Geology' में भूगर्भ शास्त्र के प्रमाणों के आधार पर वेदों का काल कम से कम २४०,००० वर्ष पूर्व सिद्ध किया है। पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने ज्योतिष के आधार पर वेद का रचना काल ३,००,००० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। इस प्रकार वेद-काल का के निर्धारण करने के विषय में जितना बारीकी से विचार किया जाता है, उतना ही वह पीछे की ओर सरकता जाता है। हो सकता है कि आगे आने वाले विद्वान् वेद का काल भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि का आरम्भ काल मानने लगें। जहां तक सृष्टि के आरम्भ काल का सम्बन्ध है, पहले कभी वह मात्र ६ हज़ार वर्ष पूर्व माना जाता था। परन्तु अब वह भारतीय परम्परा के अनुसार लगभग दो अरब वर्ष माना जाने लगा है। इस सन्दर्भ में 'ट्रिब्यून' के १३ जुलाई १६७५ के अंक में प्रकाशित यह समाचार द्रष्टव्य है—

"Scientists (Pro.Nagi and Pro. Zumberge of the University of Arizona) have found traces of ancient life and matter dating back to 2300 million years. The discovery was made in rocks found in Transaval area of South Africa·320 K.M north of Johansberg."

वेद के देशकालाबाधित होने से वेद की अन्तः साक्षी से किसी इतिहास सम्बन्धी बात का निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये वेद के सन्दर्भों को देख कर एक दो शब्दों के आधार पर किया गया कोई निर्णय तर्क सम्मत नहीं हो सकता। लोकमान्य तिलक ने वेद में निर्दिष्ट नक्षत्रों की विशेष स्थिति के आधार पर वेद के काल का निश्चय किया है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ओरायन (Orion) में

लिखा है कि ऋग्वेद मण्डल १० के ८६वें सूक्त में वसन्त सम्पात का मृगशीर्ष नक्षत्र में होने का वर्णन है। मृगशीर्ष नक्षत्र वर्त्तमान उत्तर भाद्रपदा से ६ नक्षत्र पहले है। वसन्त सम्पात को एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में जाने में ६६० वर्ष लगते हैं। इस हिसाब से मृगशीर्ष नक्षत्र में वसन्त सम्पात आज से लगभग ६००० वर्ष (६६०×६) पूर्व रहा होगा। यही इस सूक्त के कारण वेद का रचना काल है। आपाततः यह तर्क ठीक जान पड़ता है। परन्तु थोड़ा सा गहराई में जाने पर इसका थोथापन स्पष्ट हो जाता है। नक्षत्रों की कुल संख्या २७ है। इस प्रकार हर २५६२० (६६०×२७) वर्षों के बाद वसन्त सम्पात क्रान्तिवृत्त पर घूमकर फिर अपने पहले स्थान पर आ जाता है। यदि ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व वसन्त सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में था तो उससे लगभग २६००० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से लगभग ३२००० वर्ष पूर्व भी उसी नक्षत्र में था। उससे भी पहले हर २६००० वर्ष पूर्व वसन्त सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र में आता रहा। सृष्टि के लगभग २ अरब वर्ष के स्थिति काल में कितनी ही बार यह स्थिति आई। सोमवार हर सात दिन बाद फिर से आ जाता है तब मात्र सोमवार कहने से आज से एक सप्ताह पूर्व का ही सोमवार क्यों समझा जाये? एक महीना, एक वर्ष या सौ वर्ष पहलें का सोमवार भी क्यों न समझा जाये। वेद में वर्णित यह नक्षत्र स्थिति आज से ३००० वर्ष पहले की ही है, उससे पहले की नहीं—इसके लिए कोई भी निश्चयात्मक हेतु नहीं है। आज से लगभग २० हजार वर्ष (२६०००-६०००) बाद वसन्त सम्पात फिर मृगशीर्ष नक्षत्र में होगा। तब, उससे पांच सौ वर्ष पश्चात् पैदा होने वाला विद्वान् इस तर्क के आधार पर वेद को अपने से केवल ५०० वर्ष पूर्व का ही सिद्ध करेगा। वस्तुतः इतिवृत्तात्मक रूप में वेद में किसी भी प्रकार के ऐतिहासिक या भौगोलिक संकेत न होने से इस प्रकार के सभी मत केवल कल्पना पर आधारित हैं।

द्रविड़ों के भारत के मूल निवासी होने और आर्यों के ईरान से आकर यहां बसने की कल्पना का आधार भी भौगोलिक संकेत की प्रतीति कराने वाले कतिपय शब्द ही हैं। इस अनर्थ की जड़ में भी निरुक्त, व्याकरण आदि के निर्देशों की अवहेलना करके वैदिक शब्दों को यौगिक के स्थान पर रूढ़ मान कर किया हुआ दूषित वेदार्थ ही है। इस विषय में Hindustan Times के ३१ अक्तूबर १९७७ के अंक में प्रकाशित निम्न समाचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

There is no conclusive evidence of Aryan migration into India from outside, according to Indian historians, linguists and archaeologists who participated in the recent international seminar in Dushambe, the capital of Soviet Republic of Tadjikistan. Dr. N.R. Banerjee, Director of the National Museum and a member of the

Indian delegation said that Indian scholars made out this point at the seminar and the papers presented by them were very much appreciated. The seminar was held under the aegies of UNESCO to discuss the problem of ethnic movement during the second millenium B.C. Ninety delegates from the Soviet Union, West Germany, Iran, Pakistan and India attended The seven member Indian delegation was led by Prof B.B. Lal, Director of the Indian Institute of Advanced studies. It was pointed out by Indian scholars that the archaeological material associated with Aryans in different regions- and periods in India did not show any clear links with the archae ological survival of the Aryans in Afghanistan, Iran and Central Asia."

भाव यह है कि भारत सरकार का अन्तर्राष्ट्रिय गोष्ठी में प्रतिनिधित्व करने वाले इतिहासविदों के सात सदस्यीय प्रतिनिधि मण्डल ने आर्यों के ईरान आदि से आकर भारत में बस जाने विषयक मत का एकमत होकर प्रतिवाद कियां। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इस विषय का एक लेख ईरान के स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली एक पुस्तक से उद्धृत है—

> "चन्द हज़ार साल पेश अज़ ज़माना माज़ीरा बुज़ुर्गी अज़ निज़ाद आर्या अज़ कोह हाय कफ़ काज़ गुज़िश्तः बर सर ज़मीने कि इमरोज़ मस्कने मास्त क़दम निहादन्द। व चूं आबो हवाय ई सर ज़मीरा मुआफ़िक तब अ खुद याफ़्तन्द दरीं जा मस्कने गुजीदन्द व आंरा बनाम ख़ेश ईरान ख़्यादन्द।"

> (देखो जुग़राफ़िया पंज क़ितअ बनामे तदरीस दरसाल पंजुम इब्तदाई सफ़ा ७८, कालम १, मतब अ दरसनहि तिहरान सन् हिजरी १३०६, सीन अव्वल व चहारम अज़ वर्फ़ विज़ारत मुआरिफ़ व शरशुदः)

भाव यह है कि कुछ हज़ार साल पहले आर्य लोग हिमालय पर्वत से उतर कर यहां आये और यहां का जलवायु अनुकूल पाकर ईरान में बस गये। इस उद्धरण से स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत तिब्बत में सृष्टि होने और वहीं से आर्यों के इधर उधर फैल जाने विषयक भारतीय मत की पुष्टि होती है।

आज चाहे संसार ने कितनी ही उन्नति करली हो, परन्तु मानवीय समस्या का जैसा समाधान वेद में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मानव जीवन के लिये जो कुछ उपयोगी है वेद में उस सबका निदर्शन है। वेद में ऐहिक के साथ पारलौकिक ज्ञान, भौतिक के साथ आध्यात्मिक ज्ञान और अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का विवेचन है। यदि मानव के लिये वेद इतना उपयोगी न होता तो ब्राह्मणों ने अपने प्राण देकर

भी उनकी रक्षा के लिये प्रयास न किया होता। दाक्षिणात्यों ने वेदों को कण्ठाग्र करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता और 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयः,' के अनुसार बिना किंचित् लाभ की आशा के वेदों के पठन-पाठन में सारा जीवन न लगाया होता

परन्तु अब भारत और नैपाल दोनों में कुल मिला कर १७५० पण्डित और ६५० शिष्य रह गये हैं। अपने मूल रूप में ११३१ शाखाओं में से केवल १० उपलब्ध हैं—ऋग्वेद की शाकल; यजुर्वेद की काण्व, तैत्तिरीय, माध्यन्दिनी व मैत्रायणी; सामवेद की जैमिनि, राणायनि व कौथुमा; अथर्ववेद की शौनक व पिप्पलाद। मैत्रायणी शाखा के केवल ३ पण्डित, शौनक व जैमिनि के १ पण्डित व ३ शिष्य, पिप्पलाद शाखा का नैपाल में १ पण्डित और शौनक शाखा के सिनौर में केवल १ पण्डित शेष हैं। पण्डित वासुदेव रमणीक लाल पंचौली के दो पुत्र हैं। परन्तु माता के बाधक होने से वेदपाठी नहीं बन सके। दो अन्य युवक तैयार हो रहे हैं। पूर्वी खान्देश में यजुर्वेद की मैत्रायिणी शाखा के दो पण्डित और ६५० परिवार हैं परन्तु कोई भी अपनी सन्तान को वेदाध्ययन नहीं कराता। कारण है वेदानुयायियों की अपनी उदासीनता। पहले महाराष्ट्र में गणेश चतुर्थी के अवसर पर तथा अन्य समारोहों में वेद पाठ के लिये पण्डितों को आमन्त्रित करने की परम्परा थी। परन्तु अब उनका स्थान अश्लील और बेहूदा फ़िल्मी गानों को प्रसारित करने वाले ध्वनि विस्तारकों Loud speakers) ने ले लिया है। उधर पारिवारिक तथा सामाजिक व्यवस्थायें भी आड़े आ रही हैं। पहले ऐसे लोगों को राजकीय (राजा-महाराजाओं का) संरक्षण प्राप्त था। अब वह भी जाता रहा। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों में वेद के प्रति पहले सा उत्साह कैसे बना रह सकता था ?

१९६३ में कांची कामकोटिपीठ के श्री स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती ने 'वेदरक्षणनिधि ट्रस्ट' की स्थापना की है। ट्रस्ट का उद्देश्य प्रारम्भ में उन शाखाओं के अध्ययन के लिए पाठशालाओं का संचालन करना है जिनके जल्दी ही लुप्त हो जाने की आशंका है। अभी तक ट्रस्ट ने ऋग्वेद में ३९, शुक्ल यजुर्वेद में २, कृष्ण यजुर्वेद में ७८, अथर्ववेद में २ तथा सामवेद की कौथुमा शाखा में १७ अध्येता तैयार किये हैं। वेदों को सुरक्षित करने के लिये इलेक्ट्रौनिक उपकरणों की भी सहायता ली जा रही है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान तथा तिरुमल तिरुपति देवस्थान पहले ही कुछ मन्त्रों के पाठ को टेपरिकार्ड कर चुके हैं। यह सब प्रयत्न वेद के शब्दों को सुरक्षित करने के लिये हैं। इस तोतारटन्त का भी अपना महत्त्व है। नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'—जड़ ही न होगी तो फूल पत्ते कहां आयेंगे ? किन्तु यह न भूलना चाहिये कि बीज बोने का अन्तिम ध्येय फल को प्राप्त करना है जो वेदार्थ के बिना संभव नहीं—'वाचः फलमर्थः' । परन्तु यदि वह अर्थ सारहीन—संकु-

चित —दरिद्रतापूर्ण रीति से किया जायेगा तो वह वेद और वैदिक वाङ्मय के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न कर के उसके संबन्ध में हमारी—संसार की-पवित्र एवं उदात्त भावनाओं को—वेद की प्रामाणिकता और उसके दिव्य रूप को हेय बना देगा ।

दुर्भाग्यवश, प्रकारान्तर से—प्राचीन भारत के इतिहास को निमित्त बना कर—वेद और वैदिक कालीन आर्यों का जो चित्र देश की वर्त्तमान और भावी पीढ़ियों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है उसे पढ़ सुनकर किसी के भी हृदय में अपने अतीत के प्रति गौरव की भावना नहीं बनी रह सकती । इस सन्दर्भ में दिल्ली में 'Indian History and Culture Society' के १५ फरवरी १९७९ को हुए वार्षिक अधिवेशन में दिया बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल का यह वक्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

Before the communist party formed its government in China, it carried on for 20 years a systematic campaign of producing books interpreting every aspect of Chinese life in Marxist terms. The aim behind it was to prepare the minds of the people to accept the correctness of various phases of man's history as described by Marx. A similar attempt is being made by historians here."......"Dr.D.N. Jha of Delhi University who is Jonit Secretary of Indian History Congress said that beef-eating was part of socio—economic life of the people of ancient India. He and his colleagues in Delhi University did not hide their Marxist leanings and said that they would live to interpret historical events and facts in Marxian terms."

(Indian Express datcd 14—15 February, 1979)

भाव यह है कि भारत के प्राचीन इतिहास की रचना योजनाबद्ध रूप में साम्यवादी रंग देकर की जा रही है । परिणामतः कुछ समय बाद, बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं, साधारण लोग भी वेद की अमूल्यनिधि से हाथ धो बैठेंगे ।

उपर्युक्त सभी प्रकार की भ्रान्त धारणाओं को दूर कर वेद के यथार्थस्वरुप से अवगत कराने के उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है । प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है वे ही विवेच्य हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जानी चाहिये । यह संभव है कि भाष्य में कुछ विषयों पर अत्यल्प लिखा गया हो और अस्पष्ट भी रह गये हों । मानुष दोष, स्वभावदोष, स्मृतिदोष आदि के कारण अल्पबुद्धि मनुष्य की वृत्ति में दोष एवं अनेक प्रकार की त्रुटियां अवश्यंभावी हैं । यह ग्रन्थ भी इस दृष्टि से अपवाद नहीं होगा । प्राचीन सूत्रात्मक शैली में प्रस्तुती-

करण ही इसकी विशेषता है। मछली सागर की लहरों में उछलकूद मचाकर उससे आनन्द लाभ कर सकती है, उसकी गहराई की थाह पाना उसके सामर्थ्य से बाहर है। वेद के संबन्ध में ठीक यही स्थिति मेरी है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ श्री श्यामसुन्दर जी गुप्त दिल्ली ने एक हजार रुपये श्री हंसराज जी गुप्त नई दिल्ली ने पांच सौ रुपये तथा श्री चौधरी प्रतापसिंह जी करनाल ने पांच सौ रुपये प्रदान किये हैं। इस स्नेहपूर्ण आर्थिक सहयोग के लिये मैं उनके प्रति धन्यवाद प्रकट करता हुआ सादर आभार स्वीकार करता हूँ।

सद्भावना से प्रेरित नवीन विचार तथा सुझाव पाने की आशा के साथ—

डी-१४/१६ माडल टाऊन, दिल्ली।
कार्त्तिक पूर्णिमा संवत् २०३६
४ नवम्बर १६७६

विदुषामनुचरः—
लक्ष्मीदत्त दीक्षित

सूत्र-सूची

प्रथम अध्याय

वेदसंज्ञा

मन्त्रसंहिता वेदाभिधा ॥१॥

मन्त्रसंहिता का नाम वेद है ।

वेद शब्द **विद् ज्ञाने** धातु से **घञ्** प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है । **घञ्** प्रत्यय का अर्थ भाव, कर्म या करण हो सकता है । अतः ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान का साधन-तीनों ही वेद शब्द के वाच्यार्थ हो सकते हैं । यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ज्ञान के साधनरूप ग्रन्थ मात्र के लिये किया जा सकता है, तथापि पंकज, जलद आदि शब्दों के समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ग्रन्थविशेष के लिये ही वह रूढ़ हो गया है । पाणिनि ने अपने धातुपाठ में **विद्** धातु के अर्थ सत्ता, लाभ और विचारना (**विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद् विचारणे**) ये तीन और माने हैं । इन अर्थों में उक्त तीनों प्रत्ययार्थ जोड़ने से वेद शब्द का अर्थ अत्यन्त गम्भीर और व्यापक हो जाता है । लाभ आनन्द का उत्पादक अथवा आनन्द का ही एक रूप है । ऐसा विचार करने पर सत्ता, ज्ञान और आनन्द (**सच्चिदानन्द**)—ये तीन जो ब्रह्म के स्वरूप लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं, वे तीनों वेद शब्दार्थ में आ जाते हैं । अथवा विद धातु के अर्थों में सत्ता से उत्पत्ति, ज्ञान से जीवन या पालन और लाभ से प्राप्ति या लय का समावेश हो जाता है । इस प्रकार वेद शब्दार्थ में ब्रह्म के लक्षण आ जाते हैं । **जन्माद्यस्य यतः**—जिससे सब उत्पन्न हों, जिसके आधार पर सब जीवित रहें और जिसमें सब लीन हों—ब्रह्म का यही लक्षण वेदान्तसूत्रों (१-१-२) में कहा है । इसलिये वेद का एक पर्याय ब्रह्म है । परन्तु लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान के साधनरूप शब्द आज वेद नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार व्यवहार में वेद शब्द ग्रन्थ विशेष का ही वाचक बन गया है ।

वेदपदवाच्य ग्रन्थों के विषय में बहुत काल से विवाद रहा है । वेद की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद नाम से अभिहित किया है ।

प्रायः लोग केवल मन्त्र संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद) को ही वेद मानते हैं। किन्तु कुछ लोग वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों में समावेश करते हैं। कुछ अन्य आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों को भी वेद के अन्तर्गत मानते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो कल्पसूत्र, मीमांसासूत्र और वेदाङ्गों (**विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः षडङ्गमेके पा० गृ० २-६-५,६**) का भी वेदत्व स्वीकार करते हैं। आरण्यक और उपनिषदों का ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्तर्भाव माने जाने तथा कल्पसूत्रों और मीमांसा आदि के पारस्कर गृह्यसूत्र के कतिपय व्याख्याताओं द्वारा ही मानने से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही वेद पदवाच्य होना विवादास्पद रह जाता है। जब हम यह जानना चाहते हैं कि वह कौन सा वाक्यसमूह है जो आदिकाल से आज तक ईश्वर प्रदत्त अथवा अपौरुषेय नाम से प्रसिद्ध रहा है तो समस्त वैदिक साहित्य एक स्वर से कहता है—

१. **तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
ऋग्वेद १०-९०-९, यजु० ३१-७॥

२. **तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ अ० वे० १९-६-१३॥

३. **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।**
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥ अथर्व० १०-७-२०॥

४. **यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः॥**
यजु० ३४-५॥

५. **शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥** अथर्व० ११।१०-२३॥

६. **एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥** बृहदारण्यक ३-४-१०॥

७. **अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥** शत० ११-५-८॥

८. **अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्॥** छान्दोग्य०॥

९. **ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थम्॥** छा० ७-१-२॥

१०. **स तया वाचा तेनात्मनेपदं सर्वमसृजत।**
यदिदं किञ्च—ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि॥ बृहद् १-२-५॥

११. **अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयो ब्रह्मसनातनम्।**
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ मनु० १-२३॥

१२. **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः.........॥** मुण्डक० १-१-५॥

१३. त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ महाभारत शा० प० २३५-१ ॥

१४. वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः ॥ म० भा० द्रोणपर्व ५१-२२ ॥

१५. ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ॥ म० भा० वनपर्व १८७-१४ ॥

१६ यज्ञा वेदाश्च चत्वारः ॥ म० भा० वनपर्व २१५-२२ ॥

१७. ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डवः ॥ म० भा० सभापर्व ११-३१ ॥

१८. यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ॥ पद्म पुराण ५-२-५० ॥

१९. ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्यथर्वणानि च ।
चत्वारस्त्वखिला वेदा सरहस्याःसविस्तराः ॥ हरिपुराण ॥

२०. चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः ॥ महाभाष्य ५-१-१ ॥

२१. चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः.........॥ महाभाष्य, पस्पशाह्निक ॥

२२. ऋग्वेद (४-५८-३) तथा यजुर्वेद (१९-९) में यह मन्त्र है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आ विवेश ॥

इस मन्त्र में आये चत्वारि शृङ्गा का अर्थ सभी आचार्यों ने चार वेद ही किया है—

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एते उक्ताः ॥ निरुक्त १३-७ ॥
चत्वारि शृङ्गाश्चत्वारो वेदा एव चत्वारि शृङ्गाणि ॥ महाभाष्य

चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एतदुक्ताः । सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर थर्वभिर्यदेनम् ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति । चत्वारि शृङ्गाश्चतुर्मुखाश्चतुर्वेदाः ॥ काठक सं० ४०-७ ॥

२३. ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः ॥ नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद्

२४. अथर्ववेद (१९-९-१२) का भाष्य करते हुए मन्त्रान्तर्गत वेदाः का अर्थ सायणाचार्य ने वेदाः साङ्गाश्चत्वारः किया है ।

२५. अपने बृहदारण्यकवार्त्तिकसार (२-४) में सायणाचार्य ने लिखा है—
मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेया ऋग्वेदादिगिरोदिताः, ब्राह्मणं चेतिहासादिरूपमष्टाविधम्— अर्थात् ऋग्वेदादि नाम से प्रसिद्ध वेद चार हैं और इतिहासादि रूप ब्राह्मण आठ प्रकार का है ।

२६. विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥
सर्वानुक्रमणी भूमिका (षड्गुरुशिष्यकृत)

२७. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥

वा० रा० (कि० का० ३-२८ ॥

इन व्यापक प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि वैदिक साहित्य परम्परा में ऋग्वेद आदि नाम से प्रसिद्ध चार मन्त्रसंहिताओं को ही वेद माना गया है, अन्य किसी ग्रन्थ को नहीं । अब इसी मान्यता की पुष्टि में हेतु प्रस्तुत करते हैं—

स्वाभाविकार्थस्य मुख्यत्वात् ॥२॥
स्वाभाविक अर्थ के प्रधान होने से ।

यत्परः शब्दः स मुख्यार्थः— इस न्याय से शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ होता है वह किसी को बताना नहीं पड़ता । अपरिभाषित होने से वह मुख्य होता है । जो किसी वचन विशेष द्वारा परिभाषित अथवा न्यायदर्शन (२-२-६१) में निर्दिष्ट साहचर्यादि निमित्तों से प्राप्त विशेषार्थ होता है, व गौण होता है । परिभाषित अर्थ कभी मुख्य या स्वाभाविक नहीं होता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा की आवश्यकता नहीं होती । ऋग्-यजुः-साम-अथर्व संहिताओं के वेदत्व प्रतिपादनार्थ आज तक किसी ने प्रयास नहीं किया । इन संहिताओं का अध्येता या श्रोता अनायास ही कहता है—मैं ऋग्वेद या यजुर्वेद आदि का अध्ययन कर रहा हूँ । परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदादि का अध्येता साधारणतया ब्राह्मण या उपनिषद् के अध्ययन की बात कहता है अथवा नामनिर्देशपुरःसर **ऐतरेय ब्राह्मण** वा **कठोपनिषद्** के अध्ययन की बात कहता है । वेद के व्याख्यान ग्रन्थ होते हुए भी शतपथ अथवा वेद ऐतरेय ब्राह्मण का अध्येता कभी नहीं कहता है कि वह शतपथवेद वा ऐतरेय का अध्ययन कर रहा है । अतः वेद पद का स्वाभाविक एवं अपरिभाषित वाच्यार्थ मन्त्रसंहिता ही है, ब्राह्मणादि ग्रन्थ नहीं ॥२॥

ब्राह्मणेषूक्तत्वात् ॥३॥
ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा जाने से ।

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा विधायक कोई वचन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता । इसके विपरीत स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकत्र उपलब्ध वचनों से वेद शब्द का मन्त्रों का वाचक होना सिद्ध होता है । ऐतरेय ब्राह्मण (५-५-७) का वचन है—

तानि ज्योतींष्यभ्यतपन् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्ने-रजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् ।

उपक्रम और उपसंहार में एकवाक्यता आवश्यक है । यहाँ उपक्रम में वेद शब्द का प्रयोग है और उपसंहार में ऋक्, यजुः और साम शब्दों का । ऋक्, यजुः,

साम मन्त्रों के ही वाचक हैं—यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। अतः उपक्रम में प्रयुक्त **वेद** शब्द मन्त्रों का ही वाचक हो सकता है।

शतपथ ब्राह्मण (१४-५-४) में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में कहा है—

"**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।**

बृहदारण्यकोपनिषद् में उद्धृत इस वचन की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं—**यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्**। इस प्रकार आचार्य शंकर ने वेदपद घटित ऋग्वेदादि का अर्थ **चतुर्विधं मन्त्रजातम्** लिख कर स्पष्ट कर दिया कि ब्राह्मणगत वेद पद का अर्थ मन्त्रसंहिताओं से अतिरिक्त कुछ नहीं।

इसी शतपथ ब्राह्मण (११-५-८-३) में आगे **अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः** कह कर केवल संहिताओं तक वेद को सीमित कर दिया।

गोपथ ब्राह्मण (१-३४) में कहा गया है—**चत्वारो वा इमे वेदाः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।**

इस प्रकार स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थ केवल मन्त्रसंहिता के ही वेदत्व का प्रतिपादन करते हैं। तब ब्राह्मण ग्रन्थ क्या है?—

ब्रह्मणो व्याख्यानानि ब्राह्मणानि ॥४॥

ब्राह्मण ब्रह्म (वेद) के व्याख्यान ग्रन्थ हैं।

इस बात को प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि वेदों का अर्थ स्पष्ट करने तथा उनके अभिप्राय विस्तृत करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यानरूप हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने **ब्राह्मण** शब्द की व्याख्या करते हुए ५-१-१ में कहा है—

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि।

अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण महर्षियों ने जो वेद के व्याख्यान किये उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

बृहत्पाराशरी स्मृति (३-४४) में भी ब्राह्मण का लक्षण करते हुए कहा गया है—

अस्य मन्त्रस्यार्थोऽयमयं मन्त्रोऽत्र वर्त्तते।
तत्तस्य ब्राह्मणं ज्ञेयं मन्त्रस्येति श्रुतिक्रमः॥

अर्थात् इस मन्त्र का यह अर्थ है अथवा यह मन्त्र इस कार्य में विनियुक्त है—यह बताने वाले ग्रन्थ को मन्त्र या मन्त्र संहिता (वेद) का ब्राह्मण समझना चाहिये।

छान्दोग्योपनिषद् (८-१४-१) के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं—**ऋगादीन् मन्त्रानधीतेऽधीत्य च तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधींश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते**—अर्थात् ऋग्वेदादि के मन्त्रों को पढ़ कर और उनके अर्थों तथा विधियों को ब्राह्मण ग्रन्थों से जान कर कार्य करते हैं।

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वै० द० ६-१-१) कहने के बाद महर्षि कणाद, यह बतलाने के लिये कि इन वाक्यों अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों से स्पष्ट होते हैं, कहते हैं—**ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम्** अर्थात् ब्राह्मणों में शब्दों की परिभाषा और उनकी सिद्धि के लिंग पाये जाते हैं। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन के **विधिशब्दाच्च** सूत्र पर शबर स्वामी कहते हैं—**मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दवत् इत्युच्यते**' ब्राह्मणों के शब्द मन्त्रों के व्याख्यानरूप होने से विधि शब्दों की ही भाँति हैं।

तैत्तिरीय संहिता की भाष्यभूमिका में सायणाचार्य के शब्द द्रष्टव्य हैं—

"यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः।"

अर्थात् यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद कहाते हैं, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों के व्याख्यान रूप ही हैं। अतः मन्त्र ही आदि में प्रादुर्भूत हुए। यहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद कहकर भी सायण दोनों का भिन्न-भिन्न कालों में प्रादुर्भूत होना तथा ब्राह्मणों का वेदों का व्याख्यानरूप होना स्पष्ट स्वीकार करते हैं। यही बात उन्होंने काण्व संहिता की भूमिका में भी लिखी है—

"तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति।"

अर्थात् शतपथ ब्राह्मण मन्त्रों की व्याख्यारूप है। इसलिए जिन मन्त्रों की व्याख्या करनी है उनका प्रतिपादक संहिताग्रन्थ तो पूर्व भावी होने से प्रथम होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदों के व्याख्यानरूप होने में सबसे बड़ी साक्षी वे स्वयं हैं। शतपथ ब्राह्मण (४-१-५-१५) स्वयं घोषणा करता है—

'तददस्तद् दिवाकीर्त्यानाम् ब्राह्मणे व्याख्यायते यथा तद् यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतुः'। मन्त्रों की व्याख्या करते हुए अनेकत्र यह कह कर छोड़ दिया है—**'नात्र तिरोहितमिवास्ति'** अर्थात् मन्त्र का जितना भाग जटिल था उसे हमने स्पष्ट कर दिया—शेष स्पष्ट है। यह आधुनिक टीकाकारों के **'स्पष्टमेतत्'** का स्मरण दिलाता है। अनेक स्थानों पर आए **'तदु हैके'**, **'तद्धैके'** **'तद्धैकेषाम्'** **'अत्र हैके'** **'इमामु हैके'** **'पार्श्वत उ हैके'** **'नात्र तिरोहितम्'** **'व्याख्यायते'** आदि पदों का प्रयोग **ब्राह्मण ग्रन्थों** का व्याख्यानरूप होना स्पष्ट सिद्ध करता है ॥४॥

ब्राह्मण ग्रन्थों के वेद के व्याख्यानरूप होने में हेतु देते हैं—

मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा व्याख्यानकरणात् ॥५॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'इषे त्वोर्जे त्वेति' इस प्रकार वेदमन्त्रों को प्रतीक रख रखकर उनकी व्याख्या की गई है। इससे स्पष्ट है कि वेदमन्त्र व्याख्येय हैं और ब्राह्मणग्रन्थ उनके व्याख्यान हैं ॥५॥

मन्त्रों के व्याख्येय और ब्राह्मण ग्रन्थों के व्याख्यान होने से उत्पन्न एक शंका को पूर्वपक्ष के रूप में अगले सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया—

व्याख्येयव्याख्यानसाहचर्योपाधित्वाद् वेदसंज्ञा ॥६॥

व्याख्येय और व्याख्यान में साहचर्य के कारण (ब्राह्मण ग्रन्थ) वेद हैं।

पतंजलि मुनि ने महाभाष्य में यह विचार उठाया है कि व्याकरण किसे कहना चाहिये —केवल सूत्रों को या व्याख्यासहित सूत्रों को? वहां इसका यही निर्णय किया गया कि व्याख्या सहित सूत्रों का नाम व्याकरण है। इस न्याय से व्याख्यान (ब्राह्मण) सहित व्याख्येय (मन्त्रों) का नाम वेद मान लेने पर आपत्ति नहीं होनी चाहिये ॥६॥

अगले सूत्र में इस शंका का समाधान किया—

न, साध्यसाधनभावात् ॥७॥

नहीं, साध्यसाधनभाव होने से।

साधन और साध्य एक नहीं हो सकते। साध्य एक होने पर भी साधन अनेक हो सकते हैं। फिर, साधन की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक साध्य की उपलब्धि नहीं होती। मूल के समझ लेने पर उसकी टीका अनावश्यक हो जाती है। ब्राह्मणग्रन्थ तथा अन्य वेदाङ्गादि वेदार्थ को जानने के साधन हैं जिनकी आवश्यकता कालान्तर में **असाक्षात्कृतधर्मा** मनुष्यों को पड़ी। वे वेद नहीं माने जा सकते। व्याख्यासहित सूत्रों को व्याकरण तो कहेंगे किन्तु महाभाष्य, सिद्धान्त-कौमुदी आदि को अष्टाध्यायी नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। अष्टाध्यायी तो पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी ही है। इसी प्रकार व्याख्यानरूप ब्राह्मणादि को शास्त्र तो कहा जा सकता है किन्तु वेद अपौरुषेय मन्त्रसंहिताओं का ही नाम है ॥७॥

मन्त्रसंहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भेद दर्शाने के लिये एक अन्य हेतु देते हैं—

महाभाष्ये वैदिकशब्देषु संहितानां लौकिकेषु च ब्राह्मणानां प्रतीकोदाहरणात् ॥८॥

व्याकरण महाभाष्य (१-१-१) में वैदिक शब्दों के उदाहरणरूप **'शन्नो देवीरभिष्टये' 'इषे त्वोर्जे त्वा' 'अग्निमीडे' 'अग्न आयाहि'** आदि उद्धृत किये हैं जबकि लौकिक शब्दों के उदाहरण रूप **'गौरश्वः' 'शकुनिर्मृगः'** आदि को उद्धृत किया है। इस प्रकार वैदिक शब्दों के रूप में मन्त्रसंहिताओं से तथा लौकिक शब्दों के रूप में

ब्राह्मण ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत करके महाभाष्यकार ने वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का भेद स्पष्ट कर दिया हैं ॥८॥

ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदसंज्ञक न होने में कुछ और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा मनुष्योक्तत्वात् ॥९॥

मनुष्योक्त होने से ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं माने जा सकते।

वेद अपौरुषेय हैं, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ मनुष्यों द्वारा रचित हैं। अतः दोनों एक नहीं हो सकते। अर्थात् मनुष्योक्त ब्राह्मण ग्रन्थों की संज्ञा वेद नहीं हो सकती। ब्राह्मण ग्रन्थ मनुष्योक्त हैं—यह निर्विवाद है। शतपथ ब्राह्मण की समाप्ति पर उपदेश की परम्परा देते हुए अन्त में लिखा है—

तानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।

अर्थात् उन शुक्ल यजुर्वाक्यों का वाजसनेय याज्ञवल्क्य् आख्यान करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के उपज्ञाता याज्ञवल्क्य हैं और उपनिबन्धक उनका कोई अज्ञातनामा शिष्य। अर्थात् विचार याज्ञवल्क्य के हैं और उनको ग्रन्थरूप देने वाला उनका कोई शिष्य है। ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर याज्ञवल्क्य के वाक्यों को प्रमाणरूपेण उपन्यस्त किया गया हैं। अनेकत्र उपलब्ध **तदु होवाच याज्ञवल्क्यः** इत्यादि वाक्यों में प्रथम पुरुष और परोक्षभूतवाचक लिट् लकार के प्रयोग से स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य और उनका कोई परम्परागत शिष्य ही शतपथ ब्राह्मण के वर्तमान में उपलब्ध रूप के रचयिता हैं। कहीं-कहीं **पुरा** और **एतर्हि** तथा **तदु हैके** कह-कह कर प्राचीन एवं आत्मसमकालीन कतिपय विचारों एवं पद्धतियों का भेद भी दर्शाया गया है। एक स्थान पर तो आरुणि का नाम लेकर स्पष्ट कहा गया है—**शश्वद्धैतदारुणिना अधुनोपज्ञातं यद् गौतम ब्रुवाणेति। स यदि कामयेत ब्रूयादेतत् यद्यु कामयेत अपि-नाद्रियेत।** (का० ३, ब्रा० १-१९)

इन सब प्रमाणों की उपस्थिति में इस ग्रन्थ को मनुष्योक्त न मानकर वेदों के समान अपौरुषेय अथवा ईश्वरोक्त कौन कह सकता है? यही स्थिति अन्यान्य ब्राह्मणों की है। महाभाष्यकार पतंजलि ने तो स्पष्ट शब्दो में घोषणा की—**ब्राह्मणै-र्महर्षिभिः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि।** अर्थात् ब्राह्मण महर्षियों ने वेद व्याख्यानरूप ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की ॥९॥

पुराणेतिहासादिसंज्ञकत्वात् ॥१०॥

पुराण, इतिहास आदि नाम होने से।

तैत्तिरीय आरण्यक (२-९) का वचन है—**ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरिति।** आश्वलायनगृह्यसूत्र (३-३-१) में कहा है—**ब्राह्मणानि कल्पान्गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति।** इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों

का नाम पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा नाराशंसी है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२-४-१०) की व्याख्या में इतिहास, पुराण आदि पदों से ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—**किं तस्मिन्निःश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादि उर्वशीहाप्सराः इत्यादि ब्राह्मणमेव।** इस प्रकार शंकराचार्य ने इतिहास-पुराण शब्दों से ब्राह्मणगत विशिष्ट वचनों का निर्देश कर ब्राह्मण ग्रन्थों को इतिहास, पुराण आदि का पर्याय अथवा उनके अन्तर्गत स्वीकार किया है। इसी प्रकार सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीय आरण्यक (२-८) के उक्त वचन की व्याख्या में इतिहास, पुराण आदि पदों से ब्राह्मण ग्रन्थों का ही निर्देश माना है। तैत्तिरीय आरण्यक (८-२१) के व्याख्यान में भी बृहदारण्यकोपनिषद् (२-८-४) के अनुसार **ब्राह्मणं चाष्टधाभिन्नम्, तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते—इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि** कह कर आरण्यक ग्रन्थों से ही इतिहासादि के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इतिहास-पुराणादि के ये लक्षण ब्राह्मण ग्रन्थों में पूरी तरह घटते हैं। अतएव इनकी वेद संज्ञा नहीं हो सकती।

ब्राह्मण ग्रन्थों में समाविष्ट देवासुर संग्राम जैसी कथाओं का नाम इतिहास है। जगत् की उत्पत्त्यादि का वर्णन करने वाले भाग का नाम पुराण है। वेदमन्त्रों का अर्थ निरूपण करना कल्प है। दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिरूप कहे कथाप्रसंगों अथवा याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-जनक आदि की प्रश्नोत्तर रूप कथाओं का नाम गाथा है। जहाँ ईश्वर, धर्म, पदार्थविद्या तथा मनुष्यों की प्रशंसा हो वह नाराशंसी है ॥१०॥

विध्यर्थवादानुवादविनियोगात् ॥११॥

विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद वचन का विनियोग होने से।

जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन व्यवहृत होते हैं वैसे ही कर्मकाण्ड सम्बन्धी ब्राह्मण साहित्य में भी तीनों प्रकार के वचन मिलते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थ वेदपद-वाच्य नहीं हो सकते ॥११॥

अगले सूत्रों में विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद के लक्षण किये हैं—

विधिर्विधायकः ॥१२॥

प्रेरक वाक्य विधि कहाता है।

किसी कार्य में प्रवृत्त करने के लिये कहा गया वाक्य विधिवाक्य कहा जाता है। विधि के दो अर्थ बताये जाते हैं—**नियोग** और **अनुज्ञा**। जो वाक्य कार्य में अप्रवृत्त व्यक्ति को कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं वे **नियोगविधिवाक्य** कहाते हैं। जैसे—**स्वर्गकामो यजेत**। जो स्वयं प्रवृत्ति की भावना रखने वाले व्यक्ति को विशेष जनाते हैं वे **अनुज्ञाविधिवाक्य** कहाते हैं जैसे—**अग्निहोत्रं जुहुयात्** ॥१२॥

अब अर्थवाद वचनों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥१३॥

स्तुति, निन्दा, परकृति तथा पुराकल्प—यह चार प्रकार का अर्थवाद होता है।

ऐसे वाक्य जो किसी कार्य की निन्दा या स्तुति करते हों, अन्य के किये कार्य का विवरण प्रस्तुत करते हों अथवा पुरानी घटना बताते हों, वे सब अर्थवाद वचन कहाते हैं ॥१३॥

सम्प्रत्ययार्थं फलवादलक्षणा प्रशंसा स्तुतिः ॥१४॥

(विहित कर्मानुष्ठान में) प्रवृत्त करने के लिये उसकी उपलब्धियों की प्रशंसा करने वाले वाक्य स्तुति-अर्थवादवचन कहाते हैं।

जब किसी कर्मानुष्ठान से मिलने वाले फलों की प्रशंसा की जाती है वह उस विधि की प्रशंसा-स्तुति है। ऐसे स्तुतिवाक्य मनुष्य को कर्मानुष्ठान के प्रति श्रद्धान्वित कर उसमें प्रवृत्त करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुतिवाक्य इस प्रकार पाये जाते हैं—**सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै, सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयति य एतेन यजते** इत्यादि। सबकी प्राप्ति और सबकी विजय के लिये देवों (विद्वानों) ने **सर्वजित्** नामक याग से यजन किया और सबको जीत लिया। जो इस **सर्वजित्** नामक याग से यजन करता है वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है और सबको जीत लेता है ॥१४॥

वर्जनार्थमनिष्टफलवादो निन्दा ॥१५॥

(निषिद्ध कार्य से) विरत करने के लिये होने वाले अनिष्ट फलों का कथन करना निन्दा-अर्थवादवचन कहे जाते हैं।

कर्मों के अनिष्ट फलों का विवरण उनकी निन्दा है। ऐसे निन्दावाक्य निन्दनीय कर्मों से विरत कर मनुष्य को अन्य अनुष्ठेय कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। जैसे—**स एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतति, अयमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा।** इत्यादि। यज्ञों में प्रथम यज्ञ अग्निष्टोम है। इससे यजन न कर जो अन्य याग का अनुष्ठान करता है वह पतित हो जाता है, जीर्ण शीर्ण होकर नष्ट हो जाता है ॥१५॥

अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः ॥१६॥

अन्य कर्त्ताओं द्वारा अनुष्ठित परस्पर विरोधी विधि का कथन करना परकृति नामक अर्थवाद है।

शुभ कार्यों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ कार्यों से विरत करने के उद्देश्य से भिन्नकर्तृक (दूसरों के किये) परस्पर विरोधी कार्यों तथा उनसे होने वाले हानि लाभ का विवरण देना परकृति अर्थवाद कहाता है। ऐसा वाक्य है—**हुत्वा वपामे-**

वाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्, तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधति इत्यादि। कतिपय होता हवन प्रारम्भ करके वपा का ही पृथक् अग्नि में सेचन करते हैं। परन्तु चरक शाखा के अध्वर्यु लोग दधिमिश्रित घृत की ही प्रथम आहुति अग्नि में देते हैं। स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्तृक परस्पर विरोधी दो विधियों का उल्लेख परकृति नामक अर्थवाद है ॥१६॥

ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः ॥१७॥

इतिहास के समान बीते हुए अर्थों का विवरण पुराकल्प हैं।

अतीत की घटनाओं, संवादों तथा अर्थों का विवरण प्रस्तुत करना पुराकल्प-अर्थवाद कहाता है। जैसे—**तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन् —योने यज्ञं प्रतनवामहे** इत्यादि। इस कारण उक्त क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान नामक सामस्तोत्र के द्वारा स्तुति की। यह इतिहास के समान प्रतीत होने वाला बीते हुए अर्थ का विवरण पुराकल्प अर्थवाद है।

किन्हीं स्तुतिवाक्यों अथवा निन्दावाक्यों के साथ परकृति और पुराकल्प का सम्बन्ध रहने से वे विधिसम्बन्धी किसी न किसी अर्थ के द्योतक होते हैं। इस लिये ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थवाद वाक्यों में इनकी गणना की जाती है। आपस्तम्ब (३६-३७) में लिखा है—**ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः निन्दा प्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च** अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों में अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा परकृति और पुराकल्प का ही वर्णन है ॥१७॥

अब तीसरे प्रकार के ब्राह्मण-सन्दर्भ अनुवाद का स्वरूप कथन करते हैं—

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥१८॥

विधिविहित अर्थ का (सप्रयोजन) पुनः पुनः कथन करना अनुवाद कहाता है।

कर्मानुष्ठान में प्रेरित करने, प्रोत्साहित करने अथवा शीघ्रता करने के उद्देश्य से किसी शब्द या वाक्य को अथवा एक ही अर्थ के वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों या वाक्यों को दुहराना—बार-बार कहना अनुवाद है। जैसे—**दर्शपूर्णमासौ यजेत** इस विधि वाक्य द्वारा दर्शयाग और पौर्णमासयाग का विधान करके उस पर बल देने के लिये **दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** कहना पूर्वोक्त का ही पुनः कथन अर्थात् अनुवाद है ॥१८॥

ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदसंज्ञक न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

लौकिकेतिहासाभावात् मन्त्रभागे ब्राह्मणेषु च सत्त्वात् ॥१९॥

मन्त्रभाग में लौकिक इतिहास न होने तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में होने से।

जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में कवष ऐलूष तथा शतपथ ब्राह्मण में जनक-याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी आदि के नामोल्लेखपूर्वक लौकिक इतिहास हैं वैसे मन्त्र संहिताओं में नहीं

हैं। अतः मन्त्रसंहिता के समान ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते ॥१९॥

इस पर पूर्व पक्ष के रूप में एक युक्ति प्रस्तुत की जाती है—

यजुर्वेदादिष्वपि जमदग्न्यादीनां नामोल्लेखात् मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता ॥२०॥

यजुर्वेदादि मन्त्र संहिताओं में भी जमदग्नि आदि के नामों का उल्लेख होने से वेद और ब्राह्मण दोनों में समानता है।

व्यक्ति विशेषों के नाम जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं वैसे ही यजुर्वेदादि में भी जमदग्नि आदि ऋषियों के नाम पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ यजुर्वेद (३-६२) का यह मन्त्र है—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥

इस मन्त्र में जमदग्नि और कश्यप ऋषियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख है। और अथर्ववेद के इन मन्त्रों में तो ऐसे नामों की भरमार है—

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भारद्वाज गोतम वामदेव।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुशंशासः पितरो मृडता नः ॥

अ० १८-३-१५, १६

इस प्रकार जहां तक लौकिक इतिहास का सम्बन्ध है, वह ब्राह्मण ग्रन्थों के समान संहिताओं में भी उपलब्ध है। अतः इस आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों और वेदों में भेद नहीं किया जा सकता ॥२०॥

अब इस युक्ति का प्रत्याख्यान करते हैं—

न देहधारिणस्ते ॥२१॥

ये देहधारी (व्यक्ति विशेष) नहीं है।

वेदों में पाये जाने वाले जमदग्नि, विश्वामित्र, भारद्वाज आदि देहधारी मनुष्यों के नाम नहीं हैं। वेद के सभी शब्द धातुज अथवा यौगिक होने से ये शब्द ऐतिहासिक व्यक्तियों के वाचक नहीं हैं। स्वयं शतपथ ब्राह्मण के अष्टम काण्ड में शब्दों के अर्थ निम्न प्रकार दिये हैं—

चक्षुर्वै जमदग्निः, प्राणो वै वसिष्ठः, मनो वै भरद्वाजः श्रोत्रं वै विश्वामित्रः इत्यादि।

यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर ये शब्द सामान्य गुणवाचक होने से निर्दिष्ट गुणों से युक्त किसी भी व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। सबसे मैत्री रखने वाला विश्वामित्र, पापों से बचाने वाला अत्रि, ज्ञान व बल को धारण करने वाला भरद्वाज और प्राणविद्या को जाननेवाला वसिष्ठ कहाता है। **बह्वर्था अपि**

धातवः भवन्ति के अनुसार इन शब्दों के और भी अनेक अर्थ संभव हैं। इन गुणों से युक्त मनुष्यों ने वेद में से अपने लिये उपयुक्त शब्द खोज कर अपने नाम रख लिये। उन नामों वाले ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्रों का वेद में कहीं वर्णन नहीं है। वस्तुतः वेद से लोक में नाम आये हैं, लोक से वेद में नहीं ॥२१॥

ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा होने में सबसे बड़ा तर्क प्रस्तुत करते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति श्रौतसूत्रवचनाद् ब्राह्मणानां वेदत्वम् ॥२२॥
कात्यायनीय श्रौतसूत्रों में उपलब्ध **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इस सूत्र से मन्त्रों के समान ही ब्राह्मणग्रन्थों का वेद होना सर्वथा सिद्ध है ॥२२॥

अगले सूत्रों में इस सूत्र की समीक्षा करते हैं—

न कृष्णयजुःशाखास्वेवोक्तत्वात् ॥२३॥
नहीं (ब्राह्मणों का वेदत्व), केवल कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं में ही (उक्त वचन के) उपलब्ध होने से।

उक्त सूत्र या उसका वचनान्तर ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद तथा सामवेद से संबद्ध श्रौतसूत्रों में कहीं नहीं मिलता। केवल कृष्णयजुःशाखा के आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन आदि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद और सामवेद की जितनी शाखायें उपलब्ध हैं उनमें ब्राह्मण का लेशमात्र भी संमिश्रण नहीं है। कुछ लोग शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिन संहिताओं में ब्राह्मण का संमिश्रण मानते हैं। इस मान्यता का आधार कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध वर्तमान यजुः सर्वानुक्रमसूत्र है जो स्वयं अप्रामाणिक है। प्राचीन आचार्यों के मत में शुक्ल यजुः की दोनों संहिताओं में कोई भाषा ऐसी नहीं है जो ब्राह्मणपदवाच्य हो। शुक्ल यजुः सर्वानुक्रमकार ने शुक्लयजुः संहिताओं के जिन भागों को ब्राह्मण कहा है उन्हें भी अनेक प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से ऋक् तथा यजुः (पद्य तथा गद्य मन्त्र) माना है। शुक्ल यजुः की काण्व संहिता का प्रसिद्ध भाष्यकार आनन्दबोध भी तथाकथित ब्राह्मण भाग को मन्त्र नाम से स्मरण करता हुआ उनके ऋषि, देवता तथा छन्दों का निर्देश करता है। ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश मन्त्रों का ही होता है—यह सब आचार्यों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्राचीन भाष्यकार द्विवेद गंग ने तो स्पष्ट लिखा है—

शुक्लानि यजूंषि शुद्धानि, ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकानि कृष्णानि।

इस प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की किसी भी संहिता में ब्राह्मण का लेशमात्र भी नहीं है। जिन संहिताओं (ऋक्—शुक्लयजुः—साम) में केवल मन्त्र हैं उनके श्रौतसूत्रों में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** ऐसा सूत्र नहीं मिलता। कृष्णयजुः की जितनी शाखायें उपलब्ध हैं उन सबमें मन्त्र के साथ ब्राह्मण का भी पाठ मिलता

है। इसलिये कृष्णयजुः के ही श्रौतसूत्रों में यह वचन मिलता है ॥२३॥

कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध इस वचन के प्रामाणिक न होने में दो और हेतु देते हैं—

कात्यायनसूत्रेष्वनुपलब्धेः ॥२४॥

कात्यायन सूत्रों में उपलब्ध न होने से।

कात्यायन श्रौतसूत्रों में यह (**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**) सूत्र कहीं नहीं है। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञा परिशिष्ट में यह अवश्य मिलता है। वास्तव में कात्यायन के नाम से दो प्रतिज्ञा परिशिष्ट हैं—एक श्रौतसूत्र से सम्बद्ध और दूसरा प्रातिशाख्य से सम्बद्ध। उनमें से प्रातिशाख्य-सम्बद्ध परिशिष्ट में यह सूत्र मिलता है, श्रौतसूत्र से सम्बद्ध में नहीं। वस्तुतः इस परिशिष्ट का कात्यायन मुनि कृत होना भी सन्दिग्ध है। यदि यह कात्यायनसम्मत होता तो आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों के समान उनके श्रौतसूत्र-सम्बद्ध प्रतिज्ञा परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्य-संबद्ध में। वहां न होने से स्पष्ट है कि कात्यायन को ब्राह्मणों का वेदत्व इष्ट नहीं है। इससे यह भी व्यक्त होता है कि कात्यायन के मत में शुक्ल यजुः संहिता में ब्राह्मण का मिश्रण नहीं है ॥२४॥

परिभाषाप्रकरणे पठनात् ॥२५॥

परिभाषा प्रकरण में पढ़े जाने से।

कल्पसूत्रकारों ने अपने-अपने शास्त्रों के कार्य निर्वाहार्थ जैसी अन्य अनेक विशिष्ट पारिभाषिक संज्ञायें बनाई हैं वैसी ही उनकी यह वेदसंज्ञा भी पारिभाषिक है। परिभाषित अर्थ मुख्य या स्वाभाविक नहीं होता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा की अपेक्षा नहीं होती। जिन-जिन श्रौतसूत्रों में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र पढ़ा है उनमें भी वह उनके परिभाषा प्रकरण में ही पढ़ा गया है। पारिभाषिक संज्ञायें तभी रखी जाती हैं जब वे लोकप्रसिद्ध न हों अथवा शास्त्रान्तरों में अन्यार्थ में प्रसिद्ध हों। पारिभाषिक संज्ञायें अनिवार्यतः अपने-अपने शास्त्र में ही स्वीकार की जाती हैं, अन्यत्र नहीं। ऐसी अवस्था में **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र जिन-जिन श्रौतसूत्रों में पढ़ा गया है उन्हीं में वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण हो सकता है, अन्यत्र कहीं नहीं। ऋग्, शुक्लयजुः तथा सामवेद की संहिताओं में मन्त्रों का ही पाठ होने तथा उनके अपने अपने ब्राह्मणों की संहिताओं से पृथक् सत्ता होने से उनकी (ब्राह्मणग्रन्थों की) वेदसंज्ञा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यतः कृष्णयजुः शाखाओं में मन्त्र तथा ब्राह्मण का साथ-साथ पाठ है, अतः दुर्जनतोषन्याय से उन्हीं में वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण हो सकता है। महर्षि कात्यायन के अपने श्रौतसूत्र के परिभाषाप्रकरण में भी इस वचन को

न पढ़ने से बिलकुल स्पष्ट है कि उन्हें ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा किसी भी अवस्था में मान्य नहीं है। मन्त्रसंहिताओं के समान (जिनका वेदत्व लोक-प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य था) अपनी मन्त्र-ब्राह्मण संमिश्रित शाखाओं का वेदत्व प्रसिद्ध करने के लिये ही उक्त सूत्र की रचना की गई प्रतीत होती है। यदि आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रों के रचना काल में ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व मान्य रहा होता तो या तो उन सूत्रों के रचयिता ऋग्वेदादि के श्रौतसूत्रकारों के समान उक्त वचन पढ़ने की अपेक्षा न करते या फिर ऋग्वेदादि के श्रौतसूत्रकार भी उक्त वचन का निर्देश करते ॥२५॥

कल्पसूत्रकारों के वेदसंज्ञाविषयक मत के अमान्य होने में अन्य हेतु देते हैं—

कालवैषम्यात् स्थितिवैषम्याच्च ॥२६॥

काल और स्थिति की भिन्नता के कारण।

मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा कतिपय श्रौतसूत्रकारों ने ही कही है। उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रवृत्त नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों में काल और स्थिति की भिन्नता है। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों के रचना काल में पर्याप्त अन्तर है। उत्तरकाल में विरचित नियम पूर्वकाल में व्यवहृत नहीं हो सकते। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन पौर्वकालिक है और सूत्रग्रन्थों का अपरकालिक। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ वेद शब्द आया है वहाँ वहाँ वेद के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों का समावेश नहीं हो सकता। कल्पसूत्रों के पौरुषेय होने में सभी सहमत हैं। उनके लिए काल-वैषम्य के साथ-साथ स्थितिवैषम्य भी है ॥२६॥

होत्रानुष्ठानाद्‌चैव ॥२७॥

मन्त्रों से ही यज्ञ का अनुष्ठान होने से।

यज्ञों में मन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मण वचनों का नहीं। **स ऋचैव होत्रमकरोद् यजुषाध्वर्युं साम्नोद्गीथम् इति** (ऐ० ब्रा० ५-५-७) इत्यादि में ऋक् यजुः, साम का अभिप्राय तत्त्वसंज्ञक मन्त्रों से ही है, ब्राह्मणवचनों से नहीं। इस प्रसंग में मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी द्वारा उद्धृत निम्न वचन द्रष्टव्य हैं—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद......। उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चैः साम्नोपांशु यजुषा इति।" शाबर ३-३-२

यहाँ पर ऋक्, यजुः और साम का जो उच्चैष्ट्व और उपांशुत्व धर्म बताया है वह उन उन वेदों में पठित मन्त्रों का ही है, न कि उन उन वेदों के ब्राह्मण वचनों का भी। इस प्रकार के वचनों में, ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व मानने वाले याज्ञिक भी, वेद शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण नहीं करते ॥२७॥

ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही वेद की शाखाओं का भी वेदत्व विवादास्पद है। अतः अगले कुछ सूत्रों में इसी विषय का विवेचन किया है। सबसे पहले शाखाओं का स्वरूप कथन करते हैं—

पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखाः ॥२८॥

पाठभेद से वेद की विभिन्न शाखायें बन गईं।

पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है वह शाखा का रूप धारण कर लेता है जैसे—तैत्तिरीय, काठक, काण्व, मैत्रायणी आदि संहितायें। शाखाओं के प्रवचन कर्त्ताओं ने पाठान्तर मात्र करके—क्लिष्ट या अस्पष्टार्थक शब्द के स्थान पर अधिक स्पष्टार्थक शब्द का प्रयोग करके मन्त्र के भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार पाठान्तर भेद से शाखायें बनती गईं।

प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट लिखते हैं—**चरणशब्दाऽध्ययनवचनः** अर्थात् चरण (शाखा) शब्द अध्ययन का वाचक है। चरण और शाखा आदि शब्द वेदों की पठन पाठन शैली के ही वाचक हैं, वेदों के विभाग के बोधक नहीं। शाखा-तत्त्व पर विचार करते हुए वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऐतरेयालोचन में लिखते हैं—**तत्त्वतो न हि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदी-शाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव**। अर्थात् वेद की शाखायें न तो वृक्ष की शाखाओं की भांति हैं और न नदी की शाखाओं की भांति, प्रत्युत वे पठनपाठन भेद से सम्प्रदायजन्य अध्ययन का ही विशेष रूप हैं ॥२८॥

पदपाठमात्रेण वा ॥२९॥

अथवा पदपाठ मात्र कर देने से।

शाखा शब्द का व्यवहार मूलग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ संयुक्त हो जाता हैं। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकल संहिता है। शाकल्य ने संहितापाठ में कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं किया। पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक् संहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकल संहिता वा शाकल शाखा के नाम से व्यवहार होने लगा। किसी संहिता का पदपाठ कर देने मात्र से भी उसमें शाखा शब्द का व्यवहार होता है—इसमें स्पष्ट प्रमाण है—

उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने।
तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते॥
यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः।
तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत्॥

भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य भाग १—तै० काण्डानुक्रम, श्लोक २६-२७॥

अर्थात् तित्तिरि ने इस तैत्तिरीय संहिता को उख को पढ़ाया। उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया। आत्रेय द्वारा बनाई गई यह शाखा आत्रेयी कहाती है। इसका पदकार आत्रेय है और वृत्तिकार कुण्डिन। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर दिये जाने से ही यह तैत्तिरीय संहिता

आत्रेयी संहिता के नाम से व्यवहृत होने लगी। यही स्थिति शाकल संहिता की है ॥२६॥

वेद की शाखायें होने पर भी वे मूलवेद नहीं हैं, यह स्पष्ट करने के लिये अगले सूत्रों में कई हेतु प्रस्तुत किये हैं—

न वेदाख्याः शाखाः मानुषत्वाद् व्याख्यानत्वाच्च ॥३०॥

मनुष्योक्त होने तथा व्याख्यानरूप होने से शाखाओं की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

महाभाष्यकार पतंजलि **अनुवादे चरणानाम्** (अष्टा० २-४-३) के भाष्य में लिखते हैं—**अनुवदते कठः कलापस्य**—अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे स्पष्ट होता है कि कठादि शाखायें ऋषियों के प्रवचन हैं, और किन्हीं-किन्हीं शाखाओं में परस्पर पर्याप्त समानता है। शतपथ ब्राह्मण का उपज्ञाता याज्ञवल्क्य लिखता है—

"**तदु हैकेऽन्वाहुः—'होता यो विश्ववेदस' इति । नेदमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति । व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमिति ।**" (शत० १-४-१-३५)

जहाँ-जहाँ शतपथकार '**हैक आहुः**' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके किन्हीं पाठों का प्रत्याख्यान करते हैं, वे पाठ निश्चय ही शाखान्तरों के हैं। जैसे—**उपायवस्थेत्यु हैक आहुः** शतपथ ब्राह्मण (१-७-१-३) का यह पाठ तैत्तिरीय संहिता का है। इसी प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में **होता यो विश्ववेदसः** यह पाठ भी किसी अनुपलब्ध शाखा का है, जिसे मानुष पाठ कहा गया है। भाव यह है—"किसी शाखा वाले **होता यो विश्ववेदसः** ऐसा पाठ पढ़ते हैं। ऐसा पाठ पढ़ना ठीक नहीं हैं, क्योंकि यह मानुष पाठ है। यज्ञ में **मनुष्यकृत** पाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिये जैसा ऋचा का पाठ है वैसा ही बोले—**होतारं विश्ववेदसम्** (ऋ० १-१२-१)।

शतपथ के इस प्रमाण से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति याज्ञवल्क्य शाखाओं को भी मानुष अर्थात् मनुष्योक्त मानते हैं और ऋचाओं—मन्त्रों को अपौरुषेय।

शतपथ के इसी स्थल की व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है—

होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम् । यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति । कीदृग्विधं तर्हि वेदे पठितमिति—तदाह होतारमिति (शत० भाष्य १-४-१-३५)।

अर्थात् सायण भी **होता यो विश्ववेदसः को** मानुष पाठ मानता है और **होतारं विश्ववेदसम्** को वेद का पाठ।

मनुष्यकृत **शाखाओं** को अपौरुषेय **वेद** के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् (पृष्ठ ११३) में **ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाः** कह कर शाखाओं के होने पर भी वेद चार ही माने हैं। बृहज्जाबालोपनिषद् का वचन है—

एतद् बृहज्जाबालमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामाधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते।

यहां शाखा और कल्पादिकों को वेद से स्पष्टतः भिन्न गिनाया है।

वेदों की ११२७ शाखायें हैं जो आश्वलायन आदि के नाम से प्रसिद्ध वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। शाखायें दो प्रकार की हैं—एक मन्त्रात्मक और दूसरी मन्त्र-ब्राह्मण मिश्रित। दोनों प्रकार की शाखाओं के मन्त्रों में शब्द भेद से प्रवचन द्वारा व्याख्यान किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति शाखाओं में भी मन्त्रों के प्रतीक रख-रख कर वेदों का व्याख्यान किया गया है। पाणिनि के सूत्र **तेन प्रोक्तम्** (अष्टा० ४-३-१०१) का अर्थ न्यासकार ने इस प्रकार किया है—

तेन व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते।"

प्रोक्त ग्रन्थ वह है जो व्याख्यानरूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रोक्त, प्रवचन, व्याख्यान आदि पर्यायवाची शब्द हैं। व्याख्यान शाखायें हैं, व्याख्येय वेद—दोनों एक नहीं हो सकते ॥३०॥

अनित्यानुपूर्व्यत्वात् ॥३१॥

(शाखाओं की) आनुपूर्वी अनित्य होने से (वेदसंज्ञा नहीं)।

पाणिनि के पूर्वोद्धृत सूत्र **तेन प्रोक्तम्** के भाष्य में महर्षि पतंजलि ने लिखा है—

या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति।

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है—यह भाष्यकार का मत है और इसमें उदाहरण दिये हैं **काठकम्, कापालकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्**' जो निश्चय ही शाखाग्रन्थ हैं। पतंजलि मुनि के इस वचन से जहाँ शाखाओं की आनुपूर्वी का अनित्यत्व सिद्ध है वहाँ काठकादि से प्रोक्त अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुए होना भी स्पष्ट है। शाखाओं के विषय में यद्यपि यास्क ने प्रत्यक्षतः कुछ नहीं लिखा, तथापि **यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्** (निरुक्त १०-५) इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहाँ अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद बताने के लिये ही दो भिन्न-भिन्न उदाहरण दिये हैं। इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार दुर्गाचार्य ने लिखा—**स एवार्थः केवलं शाखान्तरमन्यत्**—अर्थात् अर्थ समान होते

हुए भी केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है । महाभाष्यकार ने भी **योऽसावर्थः स नित्यः या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या** कह कर इसी भाव की पुष्टि की है ।

इसके विपरीत वेदों की आनुपूर्वी को सभी आचार्य नित्य मानते हैं। यास्क का वचन है—**नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति** (निरुक्त १-१६) । ऋग्-यजुः-साम-अथर्व की आनुपूर्वी को **स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य । वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता** (महाभाष्य ५-२-५९) इस प्रमाण से महाभाष्यकार नित्य मानते हैं । आनुपूर्वी के इस भेद के रहते शाखाओं का वेदत्व नहीं बन सकता ॥३१॥

अन्तः साक्ष्यात् ॥३२॥

अन्तः साक्षी से ।

शाखाओं की अपनी आन्तरिक साक्षी से भी यही प्रमाणित होता है कि वे स्वयं अपना स्वरूप वेदों से भिन्न मानती हैं । काठकादि संहिताओं में वेदों के रूप में चारों संहिताओं का ही उल्लेख मिलता है । उदाहरणार्थ—

> **ऋक्सामयोरेवाध्यभिषिच्यते** ॥ का० सं० ३७-३ ॥
> **यजुर्भी रायस्पोषेसमिषा मदेम** ॥ का० सं० २-४ ॥
> **आशीर्वा अथर्वभिः** ॥ का० सं ५-४ ॥

इतना ही नहीं, कठ संहिता के प्रवचन कर्ता के मत में ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे । वह मन्त्र की प्रतीक देकर उसके द्रष्टा के रूप में वामदेव के नाम का उल्लेख करते हैं । जो स्वयं वेद की प्रतीक (**कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति**—ऋ० ४-४-१) देकर 'स एतत् सूक्तमपश्यत्' कह कर उसके अर्थद्रष्टा ऋषि का नाम बताता है वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है ? ॥३२॥

अब ब्राह्मण तथा शाखा ग्रन्थों के प्रामाण्य पर विचार करते हैं—

न तद्वत्प्रामाण्यमनीश्वरोक्तत्वात् ॥३३॥

उस (वेद) के समान प्रामाण्य नहीं, ईश्वरोक्त न होने से ।

ऋग्-यजुः-साम-अथर्व ये चार अपौरुषेय-ईश्वरोक्त होने से स्वतः प्रमाण हैं । शाखायें और ब्राह्मण ग्रन्थ प्रोक्त—मानुष होने से परतः प्रमाण हैं । अतः उन्हें संहिताओं की कोटि में रख कर उनके समान स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता । स्कन्दस्वामी के शिष्य और शतपथ ब्राह्मण के सबसे प्राचीन (सन् ६३९ ई०) भाष्यकार हरिस्वामी ने अपने शतपथ भाष्य के उपोद्घात में लिखा है—

वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्य-

मिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम् ।"

वेदों का अपौरुषेय होने से स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओं का प्रामाण्य तद्धेतुता अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है ॥३३॥

विरोधे त्वनपेक्ष्यमिति जैमिनिवचनात् ॥३४॥

'विरोधे त्वनपेक्ष्यम्' जैमिनि के इस वचन से।

मीमांसा दर्शनकार जैमिनि मुनि का कथन है—**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।** अर्थात् वेद और ऐतरेयादि ब्राह्मणों में परस्पर विरोध होने पर ब्राह्मणादि अप्रमाण हैं। किन्तु वेदानुकूल अथवा वेदाविरुद्ध होने पर निश्चय ही वे प्रमाण हैं—ऐसा अनुमान कर लेना चाहिये। वेदों के व्याख्यानरूप और ऋषिप्रोक्त होने से उन्हें परतः प्रमाण ही माना जा सकता है ॥३४॥

अब वेद के पर्यायों का विवेचन करते हैं—

छन्दोमन्त्रयोरभेदः छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायत्वात् ॥३५॥

छन्द, वेद, निगम, मन्त्र और श्रुति ये सभी शब्द पर्याय अर्थात् एकार्थवाची होने से छन्द और मन्त्र में भेद नहीं है। ये सब वेद अथवा संहिता के नाम हैं। अष्टाध्यायी में भी छन्द, मन्त्र और निगम ये तीनों वेद के ही नाम हैं ॥३५॥

मननान्मन्त्रो वेदः ॥३६॥

मनन किये जाने से वेद का नाम मन्त्र है।

मन् ज्ञाने अथवा **मत्रि गुप्तभाषणे** से सिद्ध होने तथा सब विद्याओं के ज्ञान का साधन होने से वेदों को **मन्त्र** कहते हैं ॥३६॥

छादनाच्छन्दः ॥३७॥

छादन करने—ढांपने से वेदों का नाम छन्द है।

छन्द शब्द **छदि संवरणे** धातु से निष्पन्न है। शतपथ ब्राह्मण में वेदों को छन्द नाम से पुकारते हुए छन्द शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।

अर्थात् देवों (विद्वानों) ने मृत्यु से भयभीत होकर वेदों से अपने आपको आच्छादित किया, इसीलिये वेदों को छन्द कहते हैं। यही बात कुछ भिन्न शब्दों में ताण्ड्यब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्योपनिषद (१-४-२) में कही गई हैं। तैत्तिरीय संहिताकार ने लिखा—**ते (देवाः) छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्** अर्थात् देवताओं (मन्त्रगत वर्ण्यविषयों) ने मन्त्रों के माध्यम से आच्छादित

होकर अपनी रक्षा की, इसलिये मन्त्रों की छन्दसंज्ञा हुई। वैदिक साहित्य में छन्द शब्द के प्रयोग को देखकर ही **छदि संवरणे** का निश्चय किया होगा। लौकिक भाषा में रूढार्थ में प्रयुक्त छन्द शब्द भी इसलिये सार्थक है कि वह कवि के भावों को आबद्ध कर मर्यादित कर देता है ॥३७॥

यथार्थज्ञानसाधनान्निगमः ॥३८॥

यथार्थज्ञान का साधन होने से वेदों को निगम कहते हैं।

ऋग्वेदादि शास्त्र समस्त सत्य विद्याओं के **आदिमूल** हैं। लौकिक एवं अलौकिक ज्ञानों का उपबृंहण उन्हीं के आधार पर हुआ है। सूर्य के समान वे सब अर्थों के प्रकाशक हैं। सर्वत्र सर्वशक्ति ब्रह्म से प्रादुर्भूत होने से वे यथार्थ ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। इसीलिये वे **निगम** कहलाते हैं ॥३८॥

श्रवणाच्छ्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः ॥३९॥

सुने जाने से वेदों को श्रुति तथा मन्त्रों को श्रुतियां कहते हैं।

वेद के पश्चात् वेदों का सर्वाधिक प्रचलित नाम **श्रुति** ही है। स्वयं वेद ने वेदानुकूल आचरण की प्रेरणा करते हुए कहा—**सं श्रुतेन गमेमहि**—हम श्रुति (वेद अथवा श्रुतियों = मन्त्रों) के अनुकूल आचरण करें ॥३९॥

वेद अथवा मन्त्रसंहिता चार हैं—इस विषय का प्रतिपादन करते हैं—

ज्ञानकर्मोपासनाविज्ञानकाण्डभेदात् संहिताख्याश्चत्वारो वेदाः ॥४०॥

ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान का विधान होने से संहिता नाम वाले वेदों की संख्या चार है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में क्रमशः ज्ञान, कर्म, उपासना एवं विज्ञान काण्ड का प्राधान्य है। काठक ब्राह्मण में चारों वेदों का उल्लेख करते हुए कहा है—**यदेनम् ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिस्स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति।** ज्ञान के बिना संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता। अतः ऋग्वेद में समस्त पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य का वर्णन करके उनके गुणों का प्रकाश किया है। ज्ञान के पश्चात् कर्त्ता की कर्म में प्रवृत्ति होती है। परन्तु जब तक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाये तब तक अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। ऋग्वेद के द्वारा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें उपयोग में लाने का विधान यजुर्वेद में मिलता है। वैज्ञानिक दृष्टि से ऋग्वेद और यजुर्वेद के विषयों का निरूपण करते हुए श्री पन्यम् नारायण गौड़ ने अपनी पुस्तक Introduction to the Message of 20th century में लिखा है—

The Ṛgveda deals with theorems and experiments, while the process of preparing reagents and apparatus is recorded in the Yajurveda.

अर्थात् ऋग्वेद वैज्ञानिक सिद्धान्तों और परीक्षकों का निरूपण करता है जबकि उनके साधनों और उपकरणों के तैयार करने की प्रक्रिया यजुर्वेद में पाई जाती है ।

यजुर्वेद यज्ञप्रधान है । किन्तु वहाँ यज्ञ से केवल अग्निहोत्र अभिप्रेत नहीं है । **यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु** तथा **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** के अनुसार **यज्ञ** शब्द में मनुष्य जीवन के लिये उपयोगी समस्त कर्मों का समावेश है ।

ज्ञान और कर्म का पर्यवसान उपासना में होता है । चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुख करके और प्राणों को अन्तर्जीवन की ओर प्रवृत्त करके उपासना के योग्य बनाने के साधनोपायों का विधान सामवेद में है ।

तीनों वेदों में जो विद्यायें हैं उन सबके शेष भाग की पूर्ति का विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशय निवृत्ति के लिये अथर्ववेद है ॥४०॥

शाखाभेद से यजुर्वेद संहिता कई रूपों में उपलब्ध है । उनमें यजुर्वेद के नाम से किस संहिता का बोध होना चाहिये—इस विषय में कहते हैं—

तत्र च माध्यन्दिनोसंहितेति यजुर्वेदः ॥४१॥

माध्यन्दिनी संहिता ही मूल यजुर्वेद है ।

शुद्ध मूल होने से माध्यन्दिनी अथवा वाजसनेयी संहिता ही मूल यजुर्वेद के रूप में स्वीकृत है । उसी को शुक्ल यजुर्वेद के नाम से भी अभिहित किया जाता है । ब्राह्मण पाठ तथा अन्य मिश्रण होने से तैत्तिरीय संहिता कृष्ण यजुर्वेद कहाती है । अर्वाचीन होने के साथ-साथ प्रक्षेपादि के कारण वह अप्रामाणिक भी है । गङ्ग द्विवेद ने अपने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में लिखा है—**शुक्लयजूंषि शुद्धानि, यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकाणि कृष्णानि** अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद तो शुद्ध है परन्तु कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों में ब्राह्मणों का मिश्रण है । सायणाचार्य ने काण्व संहिता के भाष्य में तैत्तिरीय संहिता के विषय में लिखा है—**बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद् यजुः कृष्णानि जातानि** । यही बात महीधर ने अपने शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य की भूमिका में कही है । इससे शुक्ल यजुर्वेद की प्राचीनता, अपौरुषेयता तथा प्रामाणिकता स्पष्ट है ।

यजुर्वेद की जितनी शाखायें उपलब्ध हैं उनमें कृष्ण यजुर्वेदगण में मन्त्रों की स्पष्ट प्रतीकें देकर उनका व्याख्यान उपलब्ध होने से उनका वेदत्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता । वाजसनेयी शाखाओं में भी माध्यन्दिनी शाखा के ही मूल यजुर्वेद होने में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लायब्रेरी मद्रास में उपलब्ध

हुआ है। वहां के सूचीपत्र भाग ३, पृष्ठ ३४२६ पर ग्रन्थ संख्या २४४६ पर **माध्यन्दिनशाखाविषयः** शीर्षक से एक प्रविष्टि है। पुस्तक के आद्यन्त खण्डित होने से उसका वास्तविक नाम अज्ञात है। इस पुस्तक का कुछ पाठ उपर्युक्त पृष्ठ पर निम्न प्रकार अंकित है—

अथ पंचदशसु शाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति। तथा चेदं होलीरभाष्यम् —'यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दनीयकः। सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु सा।' तस्मान्माध्यन्दिनी शाखा एव पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणा च। अतएव वसिष्ठेनोक्तम्—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा'।"

अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं में माध्यन्दिनी शाखा ही मुख्य है। होलीरभाष्य में लिखा है—यजुर्वेद का मूल माध्यन्दिनीय संज्ञक है जिसकी सर्वानुक्रमणी कात्यायन ने बनाई है। इसलिये वाजसनेयी १५ शाखाओं में माध्यन्दिनी शाखा ही मुख्य तथा सर्वसाधारण हैं।

यह उपर्युक्त ग्रन्थ लगभग ४०० वर्ष पुराना होगा। इसमें उद्धृत होलीरभाष्य यजुः सर्वानुक्रमणी का भाष्य है।

काण्व संहिता में पाठभेद द्वारा मन्त्र व्याख्यान होने से वह मूल सिद्ध नहीं हो सकती। काण्व संहिता की अपेक्षा माध्यन्दिनी शाखा की शुद्धता सर्वमान्य है। यही कारण है कि माधवाचार्य, उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द आदि ने माध्यन्दिनी संहिता का ही भाष्य किया है। इस संहिता की श्रेष्ठता और मान्यता का सबसे प्रबल तथा ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि जितने शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण हैं सब माध्यन्दिनी शाखा के ही हैं। अतः यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा अथवा संहिता ही आदि, अपौरुषेय एवं मूल यजुर्वेद है।

वेद चार हैं—यह व्यवहार ऋग्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेदों, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, पैप्पलाद, जैमिनीय आदि शाखाओं तथा प्रायः सभी ब्राह्मणों, श्रौत व गृह्यादि सूत्रों में सर्वत्र मिलता है। ऋग्वेद (१-१६४-४५) में **चत्वारि वाक् परिमिता पदानि** तथा **चत्वारि शृङ्गाः** (४-५८-३) के व्याख्यान में यास्क आदि सभी आचार्यों ने **चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ता** (निरुक्त १३-७) कह कर स्पष्ट ही चार वेदों का ग्रहण किया है ॥४१॥

तथापि यजुर्वेद (३१-७) में तीन वेदों की उत्पत्ति का वर्णन होने, मनुस्मृति में **त्रयं ब्रह्म सनातनम्** (१-२३) कथन किये जाने, शतपथ ब्राह्मण (१४-५-४-१०) में **अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः** आदि वचन उपलब्ध होने तथा वैदिक साहित्य में अनेकत्र **वेदत्रयी** अथवा **त्रयी** शब्दों का प्रयोग होने से वेदों के तीन ही होने की प्रतीति होती है। वेदत्रयी मानने वाले **ऋक्**, यजुः और साम इन

तीनों का वेदत्व स्वीकार करते हैं। वे केवल अथर्ववेद का निषेध करते हैं। परन्तु अथर्ववेद का अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है। क्योंकि—

अथर्वर्वा ब्रह्मेति ॥४२॥

अथर्ववेद का ज्ञाता ब्रह्मा होता है।

याज्ञिक प्रक्रिया का अध्ययन करने से पता चलता है कि अथर्ववेद के बिना यज्ञानुष्ठान ही असंभव है। यज्ञ में जो ब्रह्मा के पद पर प्रतिष्ठित होता है वह अथर्ववेद का ही विशेष ज्ञाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—**ऋग्वेदेन होता करोति यजुर्वेदेनाध्वर्युः सामवेदेनोद्गाता अथर्ववेर्वा ब्रह्मा।** अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्व से ब्रह्मा की नियुक्ति करे। ब्रह्मा की नियुक्ति के लिये गोपथ ब्राह्मण (पू० २-२४) में कहा है—**अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्, अथर्वाङ्गिरोविद् ब्राह्मणम्।** अर्थात् अथर्व से ब्रह्मा होता है, अथर्व का जानने वाला ब्रह्मा होता है। इसी कारण अथर्ववेद का एक नाम ब्रह्मवेद है। वस्तुतः ऋग्वेद से अथर्ववेद तक चारों वेदों का जानने वाला ब्रह्मा होता है और इसी से औपचारिक रूप में ब्रह्मा चार मुख वाला कहाता है। इस प्रकार ऋग्-यजुः-साम के साथ-साथ अथर्ववेद का अस्तित्व एवं महत्त्व स्पष्ट होने से **वेदत्रयी** कहा जाने पर भी संहिता रूप में वेद चार ही हैं ॥४२॥

फिर भी **वेदत्रयी** कथन किये जाने से उत्पन्न शंका का समाधान करते हैं—

वेदत्रयी रचनाविशेषात् ॥४३॥

रचना की दृष्टि से वेद तीन कहाते हैं।

रचना तीन प्रकार की होती है—गद्य, पद्य और गीति। उनमें गद्य को यजुः, पद्य को ऋक् तथा गीति को साम कहा जाता है। तदनुसार यजुर्वेद में भी जो छन्दोबद्ध मन्त्र आते हैं वे ऋक् कहलाते हैं। अथर्ववेद में भी जो गद्य भाग है वह यजुः और जो पद्य भाग है वह ऋक् कहलाता है और गान सर्वत्र साम के अन्तर्गत है। यही तीन वेद मानने की उपपत्ति है। इस विषय में षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणी वृत्ति की भूमिका से निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥
अहेर्बुध्नियमन्त्रं तु गोपायेत्यभिधीयते।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते॥

विनियोग किये जाने वाले मन्त्र तीन ही प्रकार के होते हैं। मीमांसा में इन तीन प्रकार के मन्त्रों का वर्णन करते हुए लिखा है—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुर्वेदः ॥

अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थ के साथ पाद व्यवस्था है वे ऋक्, जो गाने योग्य हैं वे साम और जो इन दोनों के अतिरिक्त हैं वे सब यजु हैं। इस प्रकार चार वेदों को तीन में विभक्त कर **त्रयी** कहने का कारण मन्त्रों की तीन प्रकार की रचना है। ऋक्, यजुः और साम का क्रमशः पद्य, गद्य और गीति अर्थ करके चारों वेदों के लिये **त्रयी** शब्द का प्रयोग भी उत्तरकालीन है। उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने इन अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण करके अथर्ववेद को त्रयी संज्ञा से पृथक् कर दिया ॥४३॥

इसी विषय में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

विद्याभेदाद्वा ॥४४॥

अथवा विद्याभेद के कारण।

पारिभाषिक रीति से वेद तीन प्रकार के माने जाते हैं। जिस शतपथ ब्राह्मण में चारों वेदों का नामों सहित उल्लेख मिलता है उसी में यह भी लिखा है—**त्रयी वै विद्या—ऋचो यजूंषि सामानि इति** (४-६-७)। अर्थात् विद्या भेद से वेद **त्रयी** कहाते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (२३५-१) में नामोल्लेखपूर्वक चार वेद और उनमें प्रतिपादित तीन विद्याओं का एक साथ वर्णन करके महर्षि व्यास ने इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वहाँ लिखा है—

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥

इस श्लोक में त्रयी विद्या के साथ चार वेदों का उल्लेख होने से स्पष्ट हो जाता है कि **त्रयी विद्या** वेदचतुष्टय का ही दूसरा नाम है। मनुस्मृति (७-४३) के अनुसार ये तीन विद्यायें हैं—दण्डनीत्ति (राजनीति), आन्वीक्षकी (पदार्थ विज्ञान) तथा अध्यात्म (शरीर, आत्मा व परमात्मा सम्बन्धी)। आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप में भी इन तीन विद्याओं को अभिहित किया जाता है। कोई-कोई ज्ञान-कर्म-उपासना भेद से भी इनका उल्लेख करते हैं ॥४४॥

रचनाबाहुल्यान्नामानि ॥४५॥

रचना विशेष के बाहुल्य के आधार पर वेदों का नामकरण है।

वस्तुतः जब संहिताओं अथवा ग्रन्थों की संख्या अथवा मुख्य प्रतिपाद्य विषय—ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान को लक्ष्य कर व्यवहार किया जाता है तब निश्चय ही **वेदचतुष्टय** कहा जाता है। परन्तु जब केवल मन्त्र रचना की दृष्टि से वेद का उल्लेख होता है तब **वेदत्रयी** अथवा केवल **त्रयी** कहा जाता है। '**अग्निमीडे** से

समानी व आकूतिः' तक के मन्त्र समुदाय में ऋचाओं (पद्यबद्ध मन्त्रों) का बाहुल्य होने से उसे **ऋग्वेद** के नाम से अभिहित किया गया। 'इषे त्वोर्जे से हिरण्मयेन पात्रेण' पर्यन्त मन्त्रसमूह में गद्य का प्राधान्य होने से उसे **यजुर्वेद** अथवा **यजूँषि** कहा गया। **'अग्न आ याहि से स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः'** तक मन्त्र समुदाय में गीति की प्रधानता के कारण उसे **सामवेद** का नाम दिया गया। अथर्ववेद में किसी भी एक प्रकार के मन्त्रों की अत्यधिक प्रमुखता नहीं है। अतः उसका नामकरण रचना के आधार पर न हो सकने से उसे अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, क्षत्रवेद, छन्दांसि, छन्दोह आदि नामों से अभिहित किया गया ॥७५॥

——:०:——

द्वितीय अध्याय

वेदाविर्भाव

नोपदेशमन्तरा ज्ञानोत्पत्तिः ॥१॥

उपदेश (शिक्षा) के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती ।

मानवबुद्धि जड़ वस्तु होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है । **बुद्धि** एक जन्मजात शक्ति है । परन्तु **ज्ञान** अर्जित शक्ति है । इसलिये मनुष्य में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि उसे स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती । मनुष्य को आरम्भ में गुरु ज्ञान प्राप्त हो जाये तो वह अपने अनुभव, मनन, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है अर्थात् पशुओं की भांति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रह कर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है । मनुष्य योनि की यही विशेषता है । इसी व्यवस्था में मनुष्य योनि की सार्थकता है । यही ऐसी योनि है जिसमें जीव को विकास का अवसर मिलता है । परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता । समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही संभव होता है । इसी को लक्ष्य कर शतपथ ब्राह्मण (१४-६-१०-२) में कहा है—**मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद** । अर्थात् माता, पिता और आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है ।

अफ्रीका में गृहीतजन्म हब्शीपुत्र को इंगलैण्ड में लाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर उसका पालन पोषण किया जाये तो वह अंग्रेजों की भांति व्यवहार करेगा । इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज बालक का अफ्रीका के किसी हब्शी परिवार में पालन पोषण किया जाये तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा । गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बंगला बोलता है । इस सबका कारण यही है कि जहां जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है । जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े से बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता । प्रत्येक मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त दूसरों के सम्बन्ध या सम्पर्क से ही ज्ञान प्राप्त करते रहना पड़ता है ॥१॥

कभी-कभी चार पांच वर्ष के बालक के पंजाबी घराने में जन्म लेकर भी धाराप्रवाह संस्कृत बोलने तथा धड़ाधड़ गीता-रामायण आदि के श्लोक बोलने की

बात सुनने में आती है। यदि बिना सीखे मनुष्य को कुछ नहीं आता तो ऐसी घटनायें कैसे संभव हैं ? इस शंका का समाधान करते हैं—

प्राक्तनसंस्कारोद्बोधनाद्वा ॥२॥

अथवा पूर्वजन्म के संस्कारों के जागृत होने से ।

सामान्यतः मनुष्य जिस भाषा को इस जन्म में सीखता है उसी का व्यवहार करता है । इसके विपरीत आचरण असंभव है । परन्तु मनुष्य की आत्मा अनादि काल से जन्मजन्मान्तर ग्रहण करती आ रही है । पूर्वजन्मों के संस्कार आत्मा पर अंकित रहते हैं । संस्कार से स्मरण और स्मरण से प्रवृत्ति होती है—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । यदि कोई बालक बिना सीखे संस्कृत या चीनी भाषा बोलता है तो यह निश्चय ही उसके किसी पूर्वजन्म के अभ्यास का परिणाम है । उसी के संस्कारों की स्मृति उद्बुद्ध हो जाने से वह संस्कृत या चीनी बोलने लग गया । यदि ऐसा न होता तो वह संस्कृत या चीनी ही क्यों, और भी कितनी ही भाषाएं बोलने में समर्थ होता । आदि जगद्गुरु शंकराचार्य जैसों के थोड़ी सी आयु में महान् पाण्डित्य प्राप्त करने में भी पूर्वजन्मों में उपार्जित ज्ञान ही कारण है ॥२॥

मात्र स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य का काम नहीं चल सकता—

स्वाभाविकज्ञानमात्रेणानुपपत्तेर्वनस्थपुरुषवत् ॥३॥

केवल स्वाभाविक ज्ञान के सहारे ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, वनस्थ पुरुषों की भांति।

पशु पक्षी हों या मनुष्य—जीवमात्र स्वाभाविक ज्ञान युक्त है । स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से पीछे है । पशु पैदा होते ही तैरने लगता है । राजस्थान की भैंस ने जीवन में तैरने योग्य पानी भी नहीं देखा होगा । फिर भी उसका सद्योजात बच्चा पानी में घुसते ही तैरने लगेगा । इसके विपरीत नदी के किनारे रहने वाले और जीवन भर मल्लाह का काम करते रहने वाले अथवा अन्यथा तैरने के अभ्यस्त मनुष्य का बच्चा भी बिना सीखे नहीं तैर सकेगा । तैरने की कौन कहे, जब तक उसे उंगली पकड़ कर चलाया नहीं जायेगा तब तक वह चल भी नहीं सकेगा ।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है । परन्तु स्वयं वही विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता । स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए अध्यापक के पास जाना पड़ता है । यदि स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभवमात्र से ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े गणित या व्याकरण का आचार्य, डाक्टर, इंजीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता । परन्तु अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में, जहां शिक्षा की व्यवस्था

नहीं है, हज़ारों लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत के भी सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, संथाल, नागा आदि जातियां अभी तक असभ्य बनी हैं। कौन कह सकता है कि उनमें संवेदना या चिन्तन का अत्यन्ताभाव है। यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति करता तो उसकी दशा अब तक ज्यों की त्यों क्यों बनी रहती ? दूसरी ओर हम यह भी देखते है कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े प्रदेशों में जाकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते जाते हैं वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते चले जाते हैं। जो काम स्वतः लाखों करोड़ों वर्षों में न हुआ वह प्रयत्न करने पर कुछ दशकों में हो गया।

वर्तमान समाजशास्त्री भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसीलिये आज भी यदि किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाये तो वह सर्वथा अज्ञ रह जायेगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा। जो परीक्षण किये गये उनसे यही पता चला कि यदि किसी मनुष्य को पैदा होते ही अपने माता पिता और मानव समाज से पृथक् करके पशुओं की संगति में रख दिया जाये तो वह पशुओं की भांति ही व्यवहार करेगा। वैसी बोली बोलेगा और वैसे ही चले फिरेगा। आकृति के सिवा उस मानवशिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। सुदूर अतीत में सीरिया के राजा बनीपाल, यूनान के बादशाह सेमिटिकल फ्रैड्रिक द्वितीय और इंगलैण्ड के बादशाह जेम्स चतुर्थ ने १०-१२ बच्चों को निर्जन स्थान में रखा और उनकी देखभाल के लिये नियुक्त व्यक्तियों को उनके सामने किसी प्रकार का मानवोचित व्यवहार करने से मना कर दिया। इसी प्रकार का एक प्रयोग अकबर ने भी किया। ये बच्चे न मनुष्यों की तरह बोल सकते थे, न चल सकते थे और न खा पी सकते थे। १९३८ में एक अवैध अमरीकन बच्ची को उसका अध्ययन करने के लिये ६ मास की अवस्था में एक कमरे में बन्द कर दिया गया। चार वर्ष की अवस्था होने पर उसका अध्ययन करने पर पता चला कि उसमें ४ वर्ष की आयु वाले मानव का कोई लक्षण नहीं था। जन्म के तत्काल बाद से ही भेड़ियों की मांद में पलने वाले रामू और कमला की कहानी तो देश भर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की भांति चारों हाथों पैरों से चलते थे और बोलने के नाम पर भेड़ियों की तरह गुर्राते थे। मानव समाज से दूर पशुओं के बीच रह कर वे पशु ही बन गये थे।

आहार-निद्रा-भय-मैथुन-आत्मसंरक्षण विषयक पशु जगत् का काम नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है। परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता ॥३॥

कहा जा सकता है कि यद्यपि एक मनुष्य अपने जीवन काल में स्वतः ज्ञान

प्राप्त नहीं कर सकता तथापि वंशानुक्रम से धीरे-धीरे विकास करता हुआ ज्ञान का संचय कर लेगा। इस युक्ति का प्रत्याख्यान करते हैं—

न क्रमानुक्रमज्ञानोत्पत्तिः प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥४॥

क्रमशः ज्ञानोत्पत्ति संभव नहीं, प्रत्यक्ष में असिद्ध होने से।

वर्तमान में विकासवाद एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र बन गया है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों ही विचारधाराओं में उसका प्रवेश हो गया है। वैज्ञानिक विचार धारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता प्रदान की जाती है और ऐतिहासिक विचारधारा में मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान विज्ञान की उपलब्धि में विकासवाद को आधार माना जाता है। इसी के अनुसार यह कहा जाता है कि मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञान प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक सी प्रतीत होती है। परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है। जबसे दीपक और पतंगा हैं तभी से ऐसा होता आ रहा है। पतंगों के लाखों करोड़ों वर्ष के अनुभव ने उन्हें वह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते। सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, घोड़े, हाथी आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखा देते हैं परन्तु स्वतन्त्र रूप में उनका आचरण आज भी वैसा ही है जैसा आज से लाखों करोड़ों वर्ष पहले था। मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपाज़ी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है, और वह भी प्रशिक्षक के द्वारा। पशु जगत् में ही नहीं, मानव जगत् में भी यही नियम कार्य कर रहा है। कोई कुल कितना ही शिक्षित और ज्ञानयुक्त हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का ज्ञान परम्परा से चला आता हो, उस कुल की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े लिखे विद्वान् बन जाये, यह संभव नहीं। ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वतः संक्रमण करता रहता। यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में से एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करदी जाये और दूसरे को उस शैक्षणिक व्यवस्था से दूर रखा जाये, तो दूसरा एक ही वंश परम्परा में सगा भाई होने पर भी मूर्ख रह जायेगा। ज्ञान प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित होना इसमें कारण है।

यदि जीवात्मा स्वभावतः उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों करोड़ों वर्ष बीतने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। बहुत से सर्वज्ञ होगये होते। स्कूल कालिज कभी के बन्द हो गये होते। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि आज भी बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तो वे उन्नति के स्थान पर

अवनति करने लगेंगे। ऊपर चढ़ने की भांति उन्नति परिश्रम और तपस्या मांगती है और मनुष्य उनसे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से सुगमता व सरलता को पसन्द करता है। वर्त्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानव के गुणों के विकास का नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरलता का इतिहास है। मनुष्य के मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है। आदि मानव आज के मनुष्य से मानवीय सामर्थ्य में अधिक उन्नत था—यह निर्विवाद है। इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूंढी जा सकती है जिसका आदि मानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। वह है भाषाविज्ञान। वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत ग्रीक लैटिन इत्यादि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ और अधिक गठित थी। वर्त्तमान भाषायें उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं परन्तु उनमें न तो प्राचीन भाषाओं का लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बड़ी बात कहने का सामर्थ्य। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी दृष्टियों से आज की तुलना में आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था ॥४॥

यह कहा जाये जाता है कि जैसे ज्ञान से ज्ञेय जाना जाता है वैसे ही ज्ञेय सृष्टि के गुणों से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। ईश्वरीय ज्ञान न भी हो तो मनुष्य प्रकृति से बहुत कुछ सीख सकता है। इसका प्रतिवाद करते हैं—

न प्रकृत्यादेः जडत्वात् ॥५॥

प्रकृति आदि से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, जड़ होने के कारण।

प्रकृति से ज्ञान प्राप्ति की बात सुनने में तो अच्छी लगती है, परन्तु यथार्थ में इसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। प्रकृति स्वयं जड़ है। जब उसी के पास ज्ञान नहीं तो वह दूसरों को कहाँ से देगी? यदि प्रकृति मनुष्य को ज्ञान दे सकती तो लाखों वर्षों से प्रकृति की खुली पुस्तक सामने रहने पर भी भील, संथाल, नागा, हब्शी आदि असभ्य-अशिक्षित क्यों बने रहते? और यदि मनुष्य सचमुच प्रकृति की शिक्षा पर चलने लगे तो प्रकृति के अनुगामी पशुओं की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अनुकरण करने लगेगा और पशु जगत् की भांति मनुष्य समाज भी सर्वत्र मात्स्यन्याय तथा मातृगमन व स्वसृगमनादि में प्रवृत्त होगा। तब उसमें मानवता कहां रह जायेगी।

वस्तुतः प्रकृति भी नैमित्तिक साधनों से शिक्षित (वर्त्तमान जन्म में अथवा पूर्वजन्म में) व्यक्ति के सामने ही अपने रहस्य खोलती है। सेव को गिरता देख कर पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का ज्ञान न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों को ही हुआ, हर किसी को नहीं। प्रकृति का सहयोग सामर्थ्यवान् को ही मिलता है। संसार में होने वाली घटनायें भी सामर्थ्यवान् को ही शिक्षा देती हैं। आदमी को मरता
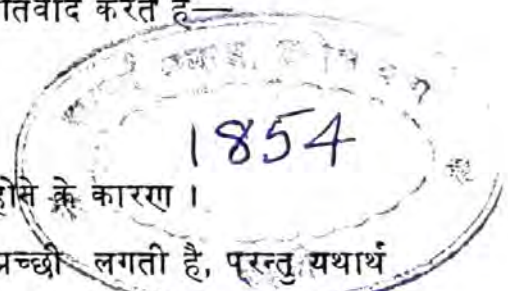
देखकर अथवा अर्थी जाती देखकर दयानन्द तथा बुद्ध की तरह हर कोई घर से नहीं निकल जाता ।

संसार में रूप ज्ञान तो पशु-पक्षी आदि सभी को प्राप्त है पर उनको प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि जन्य ज्ञान— कारण को देखकर कार्य का ज्ञान अथवा लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का बोध—नहीं होता। परन्तु परीक्षणों से प्रमाणित हो चुका है कि प्रशिक्षण और अभ्यास से कुछ हद तक यह संभव है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि बिना निमित्त के सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती । सृष्टि के कार्यों को देखने मात्र से ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं। प्राकृतिक जगत् भी तो ज्ञेय अर्थात् जानी जाने वाली सामग्री ही है। परन्तु दीवार पर टंगे नक्शे अथवा माडल को देखकर भी अध्यापक के बताये बिना उसका ज्ञान नहीं होता । इस प्रकार प्राकृतिक जगत् से भी किसी निमित्त के बिना कुछ नहीं जाना जा सकता ।।५।।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि सब मिल कर पारस्परिक आदान प्रदान से ज्ञान का संग्रह कर लेंगे। परन्तु यह भी संभव नहीं है। क्योंकि—

न सांहत्येऽपि प्रत्येकादृष्टेः ।।६।।

एक-एक में न देखे जाने से संघात में भी नहीं ।

बहुतों की अल्पज्ञता वा उनके सामान्य ज्ञान से भी विशेष ज्ञान का उद्भव नहीं हो सकता। बुझे हुए सैकड़ों दीपक एक साथ मिलकर भी प्रकाश नहीं दे सकते । पशुओं का उदाहरण हमारे सामने है। स्वाभाविक ज्ञान सबमें होने पर भी लाखों भेड़ बकरियां मिल कर रोटी बनाने या पुल बांधने जैसा कोई विशेष रचनात्मक कार्य करने में असमर्थ हैं। गाय, घोड़े आदि मिलकर सामूहिक बुद्धि के सहारे आज तक एक औषधालय नहीं खोल सके। नौ अयोग्य छात्रों के अपूर्ण ज्ञान को एकत्र करके भी वह ज्ञान उपलब्ध नहीं होता जो दसवें एक ही योग्य छात्र द्वारा हो सकता है। एक सौ मैट्रिक पास का ज्ञान एक एम० ए० के बराबर नहीं होता । स्पष्ट है कि जब तक नैमित्तिक ज्ञान का सहारा न हो तब तक जीवों के सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः बहुत से जीवों के परस्पर सम्पर्क वा मेल से ज्ञानोत्पत्ति होकर शिक्षाक्रम चालू नहीं हो सकता ।।६।।

नैमित्तिक ज्ञान के बिना स्वाभाविक ज्ञान भी व्यर्थ है। स्वाभाविक ज्ञान को सहायता की आवश्यकता अनिवार्य है—

नेश्वरीयज्ञानमन्तरा स्वाभाविकज्ञानोपयोगित्वं सूर्यमन्तरा चक्षुर्वत् ॥७॥
ईश्वरीय ज्ञान के बिना स्वाभाविक ज्ञान का उपयोग नहीं, सूर्य के बिना नेत्र की भांति।

प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय को बाह्य सहायता की अपेक्षा है। सूर्य अथवा उसके स्थानापन्न दीपक आदि के अभाव में आंख देख नहीं सकती। आकाश के बिना कान, वायु के बिना त्वचा, जल के बिना जिह्वा और पृथिवी के बिना घ्राण व्यर्थ हैं। जिस प्रकार बाह्य सहायता के बिना मनुष्य की बाह्येन्द्रियां कार्य नहीं कर सकतीं उसी प्रकार आन्तरेन्द्रिय बुद्धि भी बाह्य सहायता के बिना कार्य नहीं कर सकती। अतः जैसे ईश्वर की व्यवस्थानुसार प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से पूर्व उसका सहायक देवता उत्पन्न किया उसी प्रकार सर्वोत्तम एवं सूक्ष्म पदार्थों को जानने के साधन बुद्धि की सहायता के लिये कोई सहायक प्रदान न करता—यह कैसे संभव है? अतः सृष्टि के आदि में स्वाभाविक ज्ञान के साधन बुद्धि की सहायता के लिये पूर्णज्ञानी परमेश्वर द्वारा ज्ञान का दिया जाना अनिवार्य एवं बुद्धिसंगत है ॥७॥

परन्तु जैसे नैमित्तिक ज्ञान के बिना स्वाभाविक ज्ञान व्यर्थ है वैसे ही स्वाभाविक ज्ञान के न होने पर नैमित्तिक ज्ञान की सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि—

स्वाभाविकं ज्ञानं साधनं तद्विना नैमित्तिकज्ञानानुत्पत्तेः ॥८॥
स्वाभाविक ज्ञान साधन है, उसके बिना नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति न होने से।

सूर्यादि के प्रकाश में भी वही देख सकता है जिसके पास देखने के लिये अपनी आंखें हैं। इसी प्रकार नैमित्तिक ज्ञान से भी वही लाभ उठा सकता है जिसमें नैसर्गिक ज्ञान पहले ही विद्यमान है। पशु-पक्षी आदि प्रशिक्षण पाकर मनुष्यों की भांति निम्नस्तरीय कार्य करते देखे जाते हैं, क्योंकि उनमें भी बुद्धि का विकास भले ही न हुआ हो, चेतन होने के कारण जीवात्मा का लिंग (चिह्न) ज्ञान तो होता ही है। इसके विपरीत जड़ पदार्थों में ज्ञान का अत्यन्ताभाव होने के कारण नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वाभाविक ज्ञान स्वयमेव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता वहाँ वह एतदर्थ अपेक्षित नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति का साधन अवश्य है। स्वाभाविक ज्ञान सहज ज्ञान होता है। अतः वह स्वयं न घट सकता है और न बढ़ सकता है ॥८॥

जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न यह उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने अपने दैनिक जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा? इसका उत्तर देते हैं—

सर्गादौ वेदोपदेशः पूर्वेषामपि गुरुणा ॥९॥

सृष्टि के प्रारम्भ में आदि गुरु (परमेश्वर) ने वेद के रूप में ज्ञान दिया।

जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है वैसे ही हमारे माता पिता आदि ने अपने माता पिता आदि से और उन्होंने भी अपने माता पिता आदि से प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते चलते जब सृष्टि के आदि काल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी। तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा। अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ आदि गुरु परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के द्वारा नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्ति-संगत ठहरता है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। वही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में जितना भी ज्ञान है उसका आदि स्रोत परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिये महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन (१-२६) में **स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** कह कर परमात्मा को **गुरूणां गुरुः** अर्थात् गुरुओं का गुरु बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदि काल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके पथप्रदर्शन के लिये आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फुरित करदीं। इस ज्ञान राशि को ही वेद नाम से अभिहित किया जाता है ॥९॥

भारतीय वैचारिक परम्परा का यह निष्कर्ष है कि वेद अपौरुषेय हैं, किसी मनुष्य—चाहे वह ऋषि कोटि का ही क्यों न हो— की रचना नहीं हैं। वे ईश्वरीय शाश्वत वाणी हैं। ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि सब एक स्वर से इस मान्यता के उद्घोषक एवं पोषक हैं। वेदों की अन्तः साक्षी भी इस सिद्धान्त का समर्थन करती है। इस मान्यता की पुष्टि के लिये तर्क उपस्थित करते हैं—

वेदस्यापौरुषेयत्वमस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् ॥१०॥

कर्त्ता (रचयिता) का स्मरण न होने से वेद अपौरुषेय हैं।

जो वस्तु जिसकी बनाई होती है उसके कर्त्ता का स्मरण किसी न किसी रूप में अवश्य होता है। किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण अभ्रान्त रूप में आज तक किसी को नहीं हुआ। इससे सिद्ध है कि वेद का कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं है। यदि होता तो उसका स्मरण अवश्य होता। कदाचित् यह कहा जाए कि ऐसे बहुत से भवन, कूप आदि मिलेंगे जिनके बनाने वाले का किसी को स्मरण नहीं। किन्तु फिर भी उन्हें स्वतः निर्मित नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शब्द-समूह-रूप वेद का भी कोई न कोई कर्त्ता अवश्य रहा होगा। इसका समाधान यह है कि जीर्ण शीर्ण भवन कूप आदि के कर्त्ता का स्मरण आज न होने पर भी कभी न

कभी, किसी न किसी को, किसी न किसी रूप में अवश्य रहा होगा। किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण कभी किसी को रहा हो—ऐसा पता नहीं चलता। मीमांसा दर्शन की व्याख्या तन्त्रवार्त्तिक (पृष्ठ १०१) में भट्ट कुमारिल ने कहा है—**कर्त्तुः स्मरणाभावादपौरुषेया वेदाः**—अर्थात् कर्त्ता का स्मरण न होने से वेद अपौरुषेय हैं। सांख्यदर्शनकार महर्षि कपिल ने भी यही बात कही है—**'न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्'** (सा. द ५-४६)। अर्थात् वेद का कर्त्ता आज तक उपपादित नहीं हुआ, इसलिए वेद किसी पुरुष के बनाए हुए नहीं हैं ॥१०॥

इस विषय में एक अन्य हेतु देते हैं—

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥११॥

मुक्त और अमुक्त दोनों के (वेद रचना में) असमर्थ होने से।

मुक्त और अमुक्त जीवों में से कोई भी वेद की रचना नहीं कर सकते। अमुक्त जीव तो भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा आदि दोषों से युक्त होने के कारण **'सर्वज्ञानमय'** वेद की रचना करने में सर्वथा अयोग्य हैं। ब्रह्मनिष्ठ मुक्त जीव भी स्वरूप से अल्पज्ञ होने के कारण उसकी रचना करने में असमर्थ हैं। फिर, मुक्तावस्था में तो जीव ब्रह्मानन्द में लीन हुआ आनन्द का उपभोग भर करता है। उस अवस्था में वह करता कुछ नहीं है ॥११॥

यदि वेद का रचयिता कोई नहीं है तो वेद कहाँ से आ टपकते हैं—इसका समाधान करते हैं—

पुरुषविशेषादाविर्भावात् ॥१२॥

पुरुष विशेष से प्रादुर्भूत होने से।

प्रत्येक ग्रन्थ किसी न किसी की रचना होता है। तब वेद रूप ग्रन्थ कहीं से अकस्मात् प्रादुर्भूत हो जायें—यह कैसे माना जा सकता है? सृष्टि-प्रलय की व्यवस्था अनुमान तथा शब्द प्रमाणों से सिद्ध है। फिर, उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है? जबकि जगत् का परिवर्त्तनशील होना प्रत्यक्ष है तब **'न कदाचिदनीदृशं जगत्'** (जगत् सदा से इसी रूप में चल रहा है) यह सिद्धान्त कैसे ठहर सकता है? जब एक बार प्रलय होने पर फिर वेद प्रकट होंगे तो उनका कोई न कोई कारण तो अवश्य मानना होगा। अतः यही सिद्धान्त युक्तिसंगत ठहरता है कि जिस प्रकार जगन्नियन्ता परमात्मा ने सब जगत् को बनाया उसी प्रकार उसने वेदों को प्रादुर्भूत कर उनके द्वारा जगत् को शिक्षित किया। **बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**—वेदों की रचना बुद्धिपूर्वक की गई प्रतीत होती है। इसलिए किसी बुद्धिमान् सत्ता को ही उनका कारण मानना पड़ेगा। तब सकलबुद्धिनिधान परमेश्वर ही उनका कारण हो सकता है। प्रति कल्प में जब जब सृष्टि होती है तब तब वेद इसी रूप

में प्रादुर्भूत होते हैं। किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने के कारण वेदों के बनाए जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। **'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'**—परमात्मा द्वारा निर्मित न कहकर **'उत्सृष्ट'** (प्रकट किए गए) कहने का यही अभिप्राय है कि नित्य वाणीरूप वेदों को स्वयम्भू परमात्मा ने प्रकाशित किया। भगवद्गीता (३-१५) की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य जी ने लिखा है—

"कर्म (ब्रह्मोद्भवम्) ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत्कर्म ब्रह्मोद्भवम्। ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवम्) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षर-समुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः।"

तात्पर्य यह है कि कर्म की उत्पत्ति वेद से और वेद की अविनाशी परमात्मा से है। आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य), रामानुज आदि ने भी प्रायः इन्हीं शब्दों में वेद के ब्रह्म द्वारा निःश्वसित होने का प्रतिपादन किया है।

दार्शनिक साहित्य में **'पुरुष'** पद ईश्वर और जीव दोनों का वाचक है। इसलिए **'अपौरुषेय'** का अर्थ **'जो पुरुष अर्थात् ईश्वरकृत नहीं'** ऐसा भी समझ लिया जाता है। इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए ही योगदर्शन में ईश्वर को **'पुरुष'** न कहकर **'पुरुषविशेष'** कहा गया है—**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेषः ईश्वरः** (यो. द. १-२४)। अतः वेद को **अपौरुषेय** कहने का अर्थ सामान्य **पुरुष अर्थात्** मनुष्यकृत न होना है, **पुरुषविशेष** अर्थात् ईश्वरकृत न होना नहीं ॥१२॥

परन्तु स्वयं वेद में तथा वेदेतर अन्य वैदिक साहित्य में अनेकत्र **मन्त्रकृत्** आदि शब्दों के आने से वेद मन्त्रों का मनुष्यकृत होना प्रमाणित है। इस शंका को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा—

पौरुषेयत्वं मन्त्रकृदादेः ॥१३॥

'मन्त्रकृत्' आदि पदों से वेदों का अपौरुषेय होना सिद्ध है।

वैदिक वाङ्मय में तथा अन्यत्र भी अनेक ऋषियों को मन्त्रकृत्, मन्त्रकर्त्ता आदि कहा गया है। उदाहरणतः—

१. **ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः**...... (ऋग्वेद ९.११४.२)
२. **शिशुर्वा आङ्गिरसां मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्**...... (ता. ब्रा. १३.३.२४)
३. **नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषये। मन्त्रकृतो मन्त्र-पतयः पराद्धुः। माऽहम् ऋषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्॥** (तै० आ० ४.१.१४)
४. **मन्त्रकृतो वृणीते। यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते।** (आप० श्रौ० २४.५.६)।
५. तान् हो वाच **काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्** (ऐ० ब्रा० ६-१)

६. अथ येषामु ह मन्त्रकृतो न स्युः स पुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन् । (आप० श्रौ० २४.१०.१३)
७. इत ऊर्ध्वान्मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते । यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते । (सत्या० श्रौ० २.१.३)
८. दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः (मा० गृ० सू० १.८.२)
९. दक्षिणतस्तिष्ठन् मन्त्रवान् ब्राह्मणः······(आ० गृ० सू० २.१.१०)
१०. सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः । (पाणिनि अष्ट० ३.२.८९) कर्मकृत्, पापकृत्, मन्त्रकृत् पुण्यकृत् ।
११. श्रद्धया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसर्षीणां मन्त्रकृतां बभूव । (का० गृ० सू० ४१.१३)
१२. मन्त्रकृतां ऋषीणाम् । (रघुवंश ५.४)

उपर्युक्त १२ उद्धरणों में 'मन्त्रकृत्' शब्द उपलब्ध है। संख्या ३,५,७ में 'मन्त्रकृत्' शब्द के साथ 'ऋषि' शब्द भी पढ़ा है । संख्या २ में मन्त्रकर्त्ता, मन्त्रवान् एवं मन्त्रपति पदों का भी प्रयोग किया गया है । १०वें उद्धरण में मन्त्र उपपद होने पर कृञ् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर मन्त्रकृत् रूप की सिद्धि भी की गई है । इस प्रकार ऋषियों का मन्त्रकर्त्ता अर्थात् मन्त्रों का रचयिता होना सर्वथा सिद्ध है ॥१॥

उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए इसका समाधान करते हैं—

न कृञ् धातोरनेकार्थत्वात् ॥१४॥

नहीं, 'कृञ्' धातु के अनेक अर्थ होने से ।

किसी भी शब्द के अर्थ का विचार करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि **अनेकार्थका हि धातवः** के अनुसार धातु और उससे निष्पन्न होने के कारण शब्द अनेकार्थवाची होते हैं । संस्कृत के अनेक शब्द तो हमारी वर्त्तमान भाषाओं तक में यथायथ चले आए हैं । **'विद्या'** कोई रुपए पैसे या मिष्टान्न जैसा पदार्थ नहीं है । फिर भी हम कहते हैं—**गुरु विद्या देता है** । यहाँ **देना** से ज्ञान का संक्रमण मात्र अभिप्रेत है । शब्द प्रयोग की महिमा को न समझकर ही लोग **'गोदान'** के समान **'कन्यादान'** को मान बैठते हैं, यद्यपि कन्यादान का अभिप्राय भार्यारूप में देना मात्र है । **'कृ'** धातु क्रियासामान्यवाची है । इस कारण यह जितने अधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है उतने अर्थों में कदाचित् ही कोई अन्य धातु प्रयुक्त होता हो । भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं को गम्यमान कर यह अनेकशः प्रयुक्त होता है । उदाहरणार्थ—

खड्गं करोति	**तलवार चलाता है**	**वचनं करोति**	**आज्ञा पालन करता है**
हृदयङ्गं ,,	**ध्यान में रखता है**	**पदं ,,**	**पग धरता है**

बुद्धि करोति	निश्चय करता है	चिरं करोति	देर लगाता है
कथां ,,	कथा कहता है	अन्नं ,,	अन्न पकाता है
सूत्रं ,,	सूत्र को बाहर निकालता है	तृणी ,,	तुच्छ समझता है
नखं ,,	नख निर्मल करता है	पादौ ,,	पैर फैलाता है
घटे ,,	घड़े में डालता है	हारं कंठे ,,	हार गले में पहनता है
मनोधर्मं ,,	मन को धर्म में लगाता है		

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि क्रियासामान्यवाचक यह 'कृञ्' धातु विशिष्ट क्रियाओं को गर्भित करके भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक हो जाता है ॥१४॥

अगले सूत्र में 'कृञ्' धातु के शास्त्र में गृहीत कतिपय प्रसिद्ध अर्थों में निर्देश किया है—

कृञ् दर्शनग्रहणाध्यापननिर्मलीकरणनिक्षेपणविनियोजनेषु ॥१५॥

दर्शन, ग्रहण, अध्यापन, निर्मलीकरण, निक्षेपण तथा विनियोजन के अर्थों में ,कृञ् धातु का प्रयोग होता है।

तैत्तिरीयारण्यक के **'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः'** की व्याख्या में भट्ट भास्कर मिश्र ने लिखा है—**"अथ नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः······मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्"**। ऐतरेय ब्राह्मण के सर्व **ऋषिर्मन्त्रकृत्** के भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं—**ऋषिरतीन्द्रियद्रष्टा मन्त्रकृत् करोति धातुस्त्वत्र दर्शनार्थः। यावन्तो वा मन्त्रकृतः** इस श्रौतसूत्र (२.१.१३) के भाष्य में कात्यायन गर्ग ने लिखा है—**मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। न हि मन्त्राणां करणं भवति। अनित्य प्रसंगात् तेन दर्शनार्थः कृञ् इत्यध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनां गन्धाना-वक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः** (अष्ट० ७.३.७७) **इत्यात्मनेपद प्रतिपादने गन्धादीनार्थान् कृञो दर्शयति।** अर्थात् मन्त्रद्रष्टा ही मन्त्रकृत् कहे जाते हैं। मन्त्र बनाए नहीं जाते, क्योंकि वे नित्य हैं। अतः कृञ् धातु यहाँ देखने के अर्थ में है। धातु अनेकार्थ होते हैं। कृञ् धातु के भी अनेक अर्थ हैं।

जैसा मुनिकृत मीमांसा शास्त्र के **आदाने करोति शब्दः** (४.२.३) के भाष्य में शबर स्वामी लिखते हैं—**आदाने करोति शब्दो भविष्यति। स्वरुं करोति; स्वरूं आदत्ते। यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति, ओदनं करोति, शब्दो भवति।** यहाँ **करोति** का अर्थ है—ग्रहण करता है। जैसे लकड़ी ग्रहण करता है, उपले ग्रहण करता है, भात ग्रहण करता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण के अंगिरस शिशु के अध्यापन प्रसंग में **मन्त्रकृत्** का अर्थ स्पष्टतः मन्त्रार्थाध्यापक कहा गया है। अध्यापक होने के कारण ही अंगिरस-

शिशु को पितरों का **मन्त्रकृत्** कहा गया—'देवा वै अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृत्'। मनुस्मृति (२-१५१ से १५३) के वैसे ही सन्दर्भ में '**मन्त्रकृत्**' के स्थान में '**मन्त्रदः**' शब्द का प्रयोग कर **मन्त्रकृत्** के **मन्त्रार्थोध्यापक** अर्थ की पुष्टि की गई है। अन्यत्र मनुस्मृति में मन्त्र के पर्याय '**ब्रह्म**' का प्रयोग कर इसी भाव को इन शब्दों में पुष्ट किया है—**उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।**

भूवादयो धातवः (अष्टा० १.३.१) के भाष्य में वैयाकरण मूर्धन्य पतंजलि मुनि ने लिखा—**यथा करोतिरयमभूत् प्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मलीकरणे चापि दृश्यते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु। उन्मृदान इत्यवगम्यते। निक्षेपणे चापि वर्त्तते—कटं कुरु, घटं कुरु स्थापयेति गम्यते।** अर्थात् '**कृञ्**' धातु का प्रयोग निर्मलीकरण में (पीठ साफ़ करो, पैर साफ़ करो) और स्थापन करने में (चटाई बिछाओ, घड़ा रखो) किया जाता है।

मन्त्रों को ग्रहण करने और यथास्थान उनका विनियोग करने के अर्थ में भी **मन्त्रकृत्** का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट ने अपने **तन्त्रवार्त्तिक** में ताण्ड्य ब्राह्मण की पूर्व संकेतित अंगिरस की कथा का उल्लेख करके कहा है—**शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः**—अर्थात् आंगिरस के लिए जो मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है वह **मन्त्र बनाने वाला** इस अर्थ में नहीं, अपितु **मन्त्रों को ठीक स्थान में प्रयुक्त करने वाला** इस अर्थ में है।

महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश के वरतन्तु विषयक प्रकरण (५-४) में प्रयुक्त **मन्त्रकृताम्** शब्द का अर्थ भी उसके टीककार गोविन्द शास्त्री नामक विद्वान् की टिप्पणी के अनुसार मन्त्रों का ठीक-ठीक प्रयोग या विनियोग करने वाला अथवा मन्त्रार्थाध्यापक ही है। वहाँ लिखा है—

अत्र न मन्त्रान् कुर्वन्तीति, मन्त्रकृदिति व्युत्पत्तिर्गरीयसी वेदापौरुषेयत्वभंगात्। किन्तु मन्त्रान् कुर्वन्ति प्रयोगविधिना इष्टलाभाय प्रयुञ्जत इति मन्त्रकृतः ॥१६॥

अगले सूत्र के द्वारा **मन्त्रकार शब्द के अर्थ** को विस्पष्ट किया है—

मन्त्रकार इति सुवर्णकारादिवत् ॥१६॥

मन्त्रकार, सुवर्णकारादि के समान है।

'**मन्त्रकार**' शब्द पर विचार करते समय सुवर्ण आदि उपपद लगाकर '**कृञ्**' धातु से बने अन्य प्रयोगों पर भी ध्यान देना चाहिए। सुवर्णकार (सुनार), चर्मकार (चमार), लोहकार (लुहार) आदि सुवर्ण, चर्म अथवा लोहे को नहीं बनाते, अपितु पहले से उपलब्ध इन **पदार्थों** का **रूपान्तर** करके विभिन्न कार्यों में

उनका उपयोग करते हैं। इसी प्रकार मन्त्रकार कहाने वाले ऋषि मन्त्र बनाते नहीं, अपितु प्रत्येक मन्त्र के विविध रूप उत्पन्न करके कल्पोक्त यज्ञादि के विधान में उनका उपयोग करते हैं।

कर्मकाण्ड में **मन्त्रकृत्** या **मन्त्रकार** शब्द का प्रयोग **मन्त्रविनियोजक** के अर्थ में होता है। उस अवस्था में इन शब्दों का अर्थ होगा—**यज्ञादौ कर्मण्यनेन मन्त्रेणेदं कर्म कर्त्तव्यमित्येवंरूपेण यो मन्त्रान् करोति व्यवस्थापयति स मन्त्रकृत्।** अर्थात् जो यज्ञ प्रारम्भ में 'इस मन्त्र से इस प्रकार कार्य करना चाहिए' इस रूप में यज्ञादि की व्यवस्था करता है, वह मन्त्रकृत् कहाता है ॥१६॥

यह भी कहा जाता है कि जैसे सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि कवियों के नाम उनकी कविताओं में मिलते हैं वैसे ही मन्त्रों के बीच-बीच में उनके रचयिता ऋषियों के नामों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में ऐसा नहीं है, इसका विवेचन अगले सूत्र में किया है—

न मन्त्रेष्वङ्गिरसादयो मन्त्रकृतः यौगिकत्वात् ॥१७॥

मन्त्रों के बीच में आने वाले अंगिरा आदि शब्द यौगिक होने से मन्त्र रचयिता ऋषियों के नाम नहीं हैं।

रचना के बीच अपना नाम डालने की शैली प्राचीन संस्कृत साहित्य में किसी भी काल में विद्यमान नहीं रही। मध्यकालीन कवियों तक ने कभी अपने नाम नहीं लिए। यदि वेद में ऐसी प्रवृत्ति होती तो पश्चाद्वर्ती साहित्य में इसका अनुकरण सर्वत्र नहीं तो अनेकत्र अवश्य किया जाता। हिन्दी कविता में यह व्यवस्था अवश्य है। परन्तु वहाँ कवि का नाम अनर्थक अथवा असम्बद्ध सा रहता है। वेदमन्त्रों में ऋषि का नाम समझे जाने वाले पद मन्त्र का अनिवार्य अंग होते हैं। उन्हें छोड़कर मन्त्र का अर्थ पूरा नहीं होता। वस्तुतः वे ऋषिनाम सामान्य नाम या गुणवाचक शब्द हैं, न कि विशिष्ट नाम।

वस्तुस्थिति यह है कि जैसे आज वैदिक ऋषियों, औपनिषद् मनीषियों तथा रामायण, महाभारत आदि के विद्वानों और वीर पुरुषों में से नाम चुनकर अपनाए जाते हैं वैसे ही हमारे पूर्वज वेदों में से शब्द (जो अपने आप में सब धातुज वा यौगिक हैं) चुनकर अपने नाम रख लेते थे। कभी-कभी द्रष्टा ऋषि का नाम भी उन विशेष पदों के कारण पड़ जाता है। व्याकरण के शुष्क पण्डित को लोग **टिड्ढाणञ्** नाम से पुकारते देखे गये हैं। वृषागिर आदि वेद के रहस्य भरे शब्दों वाली ऋचाओं के द्रष्टा ऋषि भी उपचार से उन्हीं नामों से पुकारे गए। कभी-कभी अपने कामों से मनुष्यों के नाम पड़ जाते हैं और कालान्तर में वे नाम इतने प्रसिद्ध हो जाते है कि उनका वास्तविक पूर्वनाम लुप्त हो जाता है। महाभाष्य के **यर्वाणस्तर्वाण ऋषयः** नाम से संकेतित नाम भी ऐसा ही उदाहरण है। उस

ऋषि प्रवर का यह नाम 'यद्वा नः तद्वा नः' के उपर्युक्त उच्चारण के कारण पड़ गया था।

इसी मानव प्रवृत्ति का यह खेल है कि अनेक ऋषियों के नाम उनके व्याख्यात मन्त्र के वर्ण्यविषय (देवता) से प्रसिद्ध हो गये। ऋषि और देवता का घनिष्ट सम्बन्ध होने से—विशेष और विशेषज्ञ के साहचर्य के कारण वे नाम रख दिए गए। जब किसी ऋषि ने किसी शब्द या किसी देवता वाले सूक्त के भाव का विशेष रूप से दर्शन किया तब उसके वास्तविक नाम का लोप होकर वह शब्द अथवा देवता ही उसका नाम हो गया। ऋग्वेद के १०वें मण्डल का १६१वां सूक्त है। इसमें ५ मन्त्र हैं जिनमें राजयक्ष्मा आदि रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। इस सूक्त का देवता **राजयक्ष्मघ्नम्** है और ऋषि **राजयक्ष्मनाशनः** है। इसी प्रकार यजुर्वेद १२-७६ का देवता **वैद्य ओषधिस्तुतिश्च** है और ऋषि **भिषक्** है ॥१७॥

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि जिस सूक्त या ऋचा के आरम्भ में जिस ऋषि का नाम अंकित है वही उस सूक्त का रचयिता है और जैसे वर्त्तमान में लेखक का नाम लेख या पुस्तक पर अंकित होता है वैसे ही सूक्त या मन्त्रों के रचयिताओं के नाम उन उन सूक्तों या मन्त्रों पर अंकित हैं। इस मान्यता के अनुसार अनेक ऋषियों द्वारा रचित सूक्तों और मन्त्रों के संकलन का ही नाम वेद है। परन्तु यह धारणा नितान्त अशुद्ध है। फिर, इन नामों के उल्लेख का प्रयोजन क्या है, इसे स्पष्ट करते हैं—

नामान्युपकारस्मरणार्थम् ॥१८॥

नामोल्लेख उपकार स्मरण के लिए है।

प्राचीन काल से मनीषिजन मन्त्रों पर विचार करते आ रहे हैं। लौकिक लाभ के प्रलोभन से अनुपहतचित्त जिन मनीषियों ने अपने मनन-चिन्तन के द्वारा समय-समय पर मन्त्रगत धर्म (तत्त्व) का साक्षात् किया उनका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते रहने के लिए उनके नामों को तत्तत् मन्त्रों के साथ जोड़ दिया गया। कुल्लूक भट्ट ने ठीक ही कहा है—**ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः।** ब्रह्मा से लेकर सभी ऋषि वेदों का स्मरण कराने वाले हैं, उनके बनाने वाले नहीं। मन्त्रों पर लिखे ये नाम मन्त्रों के समान अनादि अथवा नित्य नहीं हैं। सूक्तों अथवा मन्त्रों के ऊपर नाम लिखना परम्परागत है ॥१८॥

'ऋषि' का लक्षण करते हैं—

ऋषिर्दर्शनाद् व्याख्यानाद् प्रवचनाद्वा ॥१९॥

मन्त्रों का दर्शन, व्याख्यान अथवा प्रवचन करने वाले ऋषि कहाते हैं।

जिन आप्त पुरुषों ने समाधि प्रज्ञा द्वारा विविध मन्त्रों अथवा सूक्तों के

तत्त्वार्थ का दर्शन किया अथवा मन्त्रार्थ का दर्शन करके उनके परिशीलन तथा प्रचार में अपना जीवन खपा दिया, वेदांगों आदि की रचना करके अध्येताओं का मार्ग प्रशस्त किया तथा वेद विद्या का विस्तार किया वे ऋषि कहलाये। निरुक्त (२-११) में यास्काचार्य ने ऋषि शब्द का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्यदेनांस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम्॥

अर्थात् ऋषि मन्त्रार्थ के द्रष्टा होते हैं। आचार्य औपमन्यव ने भी कहा है कि वेदों में प्रयुक्त स्तुतिपरक मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करने वालों को ऋषि नाम से पुकारा जाता है। तपस्या व ध्यान करते हुए इनको स्वयम्भू वेद के अर्थ का ज्ञान हुआ, इसलिए वे ऋषि कहलाए। यह अर्थदर्शन ही ऋषित्व है। अन्यत्र नि० (७-३) उन्होंने **'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति'** कहा है।

तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय व शतपथ ब्राह्मण, काण्व संहिता तथा सर्वानुक्रमणी आदि में मन्त्रार्थद्रष्टाओं को ही ऋषि नाम से संबोधित किया गया है। उनके विषय में यह भी उल्लेख किया गया है कि उन्होंने किन-किन मण्डलों, सूक्तों अथवा मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया। इस विषय में उदाहरणार्थ कुछ स्थलों का निर्देश किया जाता है—

१. **स पूषा एतं मन्त्रमपश्यत्—सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामीति।**
   तै० सं० २-६-८

२. **स वामदेवः एतं सूक्तमपश्यत्—कृणुष्व वाजः प्रसितिं न पृथ्वीम्।**
   काण्व सं० १०-५

३. **ते देवा एतद् यजुरपश्यन् 'अजोऽसि महोऽसि'।** काण्व सं० १७-७

४. **महीं गामिति काण्वो हैनां ददर्श।** शत० ब्रा० ६-२-२-२८

५. **इन्द्र क्रतुं न आभर इति वसिष्ठोऽपश्यत्।** ताण्ड्य ब्रा० ४-७-३

६. **गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्।** सर्वानुक्रमणी २-१

७. **गाथिनो विश्वामित्रः त तृतीयं मण्डलमपश्यत्।** सर्वानुक्रमणी ३-१

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि वेदमन्त्रों के अर्थद्रष्टा तथा साक्षात् करके उनका व्याख्यान और प्रचार करने वालों को ऋषि कहते हैं। यदि ये ऋषि वेदमन्त्रों के रचयिता होते तो उपर्युक्त सभी वाक्यों में **'अपश्यत्'** (देखा) के स्थान पर **'अरचयत्'** (बनाया) क्रिया का प्रयोग होना चाहिए था। शतपथ ब्राह्मण (४-३-६) में ऋषि के विषय में कहा है—**'यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः'**—अर्थात् जो ज्ञान को प्राप्त करते और उसका प्रवचन करते हैं वे ऋषि कहाते हैं॥१६॥

यदि ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा न मानकर मन्त्ररचयिता माना जाए तो क्या

होगा, इसका उल्लेख अगले सूत्र में किया है—

नोचेदसामञ्जस्यम् ॥२०॥

ऐसा न माना जाए तो संगति नहीं बैठेगी।

ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता (रचयिता) मानने पर अनेक प्रबल आक्षेपों का सामना करना होगा जिनका कोई समाधान न हो सकेगा। उदाहरणार्थ—

१. अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके कई-कई ऋषि हैं। दो-दो चार-चार ऋषियों वाले तो सैकड़ों मन्त्र है। ऋग्वेद ६-१०७ के **सप्तर्षयः** सात ऋषि बताए गए हैं। ऋग्वेद (६-६६-१६) के **'अग्न आयूंषि'''** मन्त्र के **शतं वैखानसा ऋषयः** सौ वानप्रस्थ ऋषि हैं। इसका तात्पर्य यह है कि २४ अक्षरों के गायत्री छन्द के इस मन्त्र को सौ ऋषियों ने मिलकर बनाया। ऋग्वेद के ८वें मण्डल के तीन मन्त्रों वाले सूक्त ३४ को **सहस्रसंख्यका ऋषयः** एक हज़ार ऋषियों ने मिलकर बनाया होगा। मन्त्र के अर्थ को जानने, उसका विनियोग, व्याख्यान और प्रचार करने वाले तो हज़ार व्यक्ति भी हो सकते हैं। परन्तु एक मन्त्र के सौ व्यक्तियों द्वारा बनाए जाने की कल्पना सर्वथा असंगत तथा उपहासास्पद होगी। ऐसा होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

२. ऐसे भी अनेक मन्त्र हैं जो एक से अधिक वेदों में पाए जाते हैं परन्तु भिन्न-भिन्न वेदों में उनके भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। उदाहरणार्थ—**'अग्ने नय सुपथा राये……'** यह प्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद १-१८९-१ में भी है और यजुर्वेद ४०-१६ में भी है। परन्तु ऋग्वेद में उसका ऋषि **अगस्त्य** है और यजुर्वेद में **'दध्यङ्ङाथर्वण'** है। क्या यजुर्वेद के ऋषि ने ऋग्वेद का मन्त्र चुराकर उसे अपने नाम से प्रचलित कर दिया?

३. ऐसे मन्त्र भी हैं जो एक ही वेद में एक से अधिक बार आए हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनके भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। उदाहरणार्थ—**'इडा सरस्वती मही……'** इस मन्त्र का ऋषि ऋग्वेद १-१३-६ में **मेधातिथि काण्व** हैं परन्तु ५-५-८ में इसी मन्त्र का ऋषि **बहुश्रुतआत्रेय** है। एक ही मन्त्र को पहले एक ऋषि बनाए और फिर उसी को ज्यों का त्यों दूसरा ऋषि बनाए—यह कैसे सम्भव है?

४. ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके देवता और ऋषि एक ही नाम वाले अथवा मिलते-जुलते नाम वाले हैं। ऋग्वेद १०-१२४ के मन्त्र २-४ का देवता भी अग्नि है और ऋषि भी अग्नि। ऋग्वेद के ही १०-६७ सूक्त का देवता **'ओषधिस्तुतिः'** है और ऋषि भिषक् अर्थात् वैद्य हैं। राजयक्ष्मा आदि रोगों की चिकित्सा विषयक ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १६१वें सूक्त का देवता **'राजयक्ष्मघ्नम्'** है और ऋषि

र ाजयक्ष्मनाशनहै। क्या मन्त्र रचयिता ऋषि अपनी ही स्तुति के मन्त्र बनाता है ?

इन समस्त आपत्तियों का समाधान ऋषियों को मन्त्रार्थद्रष्टा, व्याख्याता अथवा प्रवक्ता मानकर ही होता है ॥२०॥

वेदमन्त्र से सम्बद्ध ऋषियों के सम्बन्ध में एक और मत का प्रतिपादन करते हैं—

कविनिबद्धवक्तारश्चैके ॥२१॥

ऋषि कविनिबद्ध वक्ता हैं—कुछ आचार्यों का ऐसा मत है।

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य उदयवीर शास्त्री का मत है कि सूक्तारम्भ में अंकित नाम ऐतिहासिक न होकर मन्त्रों के समान शाश्वत हैं। जिस परमात्मा ने वेद मन्त्रों की रचना की उसी ने उन-उन सूक्तों या मन्त्रों के आरम्भ में ऋषि-नामों का भी सन्निवेश किया। जैसे नाटककार विभिन्न पात्रों के माध्यम से अपना कथन प्रस्तुत करता है वैसे ही तत्तत् ऋषि नामों के माध्यम से परमात्मा ने अपनी दिव्य रचना वेद का प्रणयन किया। अर्थात् वे ऋषि कविनिबद्ध वक्ता हैं। सृष्टि के आरम्भ में वेदमन्त्रों के साथ ही तत्तत् ऋषि नामों का ज्ञान भी समाधि-प्रज्ञालीन ऋषियों को प्राप्त होता है। इस मत के अनुसार प्रतिसर्ग जब भी वेदों का आविर्भाव होगा उन मन्त्रों के वही ऋषि होंगे जो इस समय हैं। यह भी सम्भव है कि पश्चाद्वर्ती काल में जिन-जिन ऋषियों ने जब-जब भी किन्हीं सूक्तों अथवा मन्त्रों के तत्त्वार्थ का दर्शन, प्रवचन या प्रचार किया तब-तब वे तत्तत् मन्त्रार्थ या प्रवचन की महिमा के कारण प्रसिद्ध हो गये जो सूक्त अथवा मन्त्र के आरम्भ में सन्निविष्ट था। कालान्तर में उनका अपना सांस्कारिक नाम विलुप्त अथवा विस्मृत प्राय हो गया।

जिन सूक्तों पर जड पदार्थ, क्षुद्रप्राणी अथवा मनोभावसूचक ऋषिनाम (नदी, मत्स्य, श्रद्धा, शिव संकल्प आदि) अंकित हैं उनकी समस्या का समाधान इस मत से हो जाता है। प्राचीन मत (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः) के अनुसार इस समस्या का समाधान यह कह कर किया जाता है कि मन्त्र में देवता (प्रतिपाद्य विषय) के प्रतिपादन के कारण ही सांस्कारिक नाम के स्थान पर ऋषियों के देवतानुसारी नाम प्रचलित हो गये। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों के देवता और ऋषि एक ही हैं। ऋग्वेद में ७१ नाम ऐसे हैं जो देवता भी हैं और ऋषि भी। यह भी कहा जा सकता है कि नदी मत्स्यादि प्रवहमान जल राशि तथा मछली आदि के वाचक न हो कर धात्वर्थ के आधार पर तत्तत् गुण से युक्त होने के कारण विशिष्ट

व्यक्तियों के नाम हों। जैसे नद् अव्यक्ते शब्दे से निष्पन्न नदी ऐसे व्यक्ति का नाम हो सकता है जो अव्यक्त शब्द स्तुति करने वाला हो।

ऋषिनामों के कविनिबद्ध वक्ता होने की स्थिति में एक समस्या का समाधान अवश्य होता प्रतीत होता है। वह है—मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये ऋषिज्ञान की आवश्यकता। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में वेदार्थ में ऋषिज्ञान की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। प्रसिद्ध भाष्यकार वेंकट माधव के अनुसार **अर्थज्ञाने ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्**—वेदार्थज्ञान में ऋषितत्त्व का ज्ञान अतिशय उपकारक है। तब यदि ऋषि नामों के मन्त्रवत् शाश्वत होने के कारण तत्तत् ऋषि नाम के साथ तत्तत् मन्त्र अथवा सूक्त के मूलतत्त्वनिवेश अथवा गूढाभिप्राय की दृष्टि से कोई सम्बन्ध न हो तो ऋषिज्ञान वेदार्थज्ञान में किस प्रकार सहायक हो सकता है? मन्त्रार्थ द्रष्टा के नाम मात्र के ज्ञान की वेदार्थ में क्या उपयोगिता है? परन्तु कई मन्त्रों अथवा सूक्तों के तो **शतं वैखानसा ऋषयः** और **सहस्रसंख्यका ऋषयः** सौ सौ और हज़ार हज़ार ऋषि हैं। इन सभी की कविनिबद्ध वक्ता के रूप में कैसे संगति बैठ सकती है? इस मत के सम्बन्ध में और गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है ॥२१॥

वेद के अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरोक्त होने में अन्य हेतु देते हैं—

सर्गादौ प्रादुर्भावात् ॥२२॥

सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत होने से (वेद अपौरुषेय हैं)।

किसी भी संगठन, समाज अथवा संस्था का संचालन करने के लिये उसके संविधान का होना अनिवार्य है। अतः संगठन के साथ साथ ही उसके नियमोपनियम बनाये जाते हैं जिनका पालन करना उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के लिये आवश्यक होता है। जब साधारण मनुष्य भी विधि विधान के बिना कोई संगठन नहीं बनाता तो यह कैसे संभव है कि ईश्वर सृष्टि तो बनादे किन्तु जिसके भोगापवर्ग के लिये सृष्टि की रचना की उस मनुष्य को उस सृष्टि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी न दे। सृष्टि के आरम्भ में जब पहले पहल मनुष्य का इस धरती पर आविर्भाव हुआ तो वह सर्वथा अनभिज्ञ था। सृष्टि में उसे बहुत कुछ देखने को मिला। किन्तु विविध पदार्थों के न वह नाम जानता था, न उनके गुणदोषों को जानता था और न उनके उपयोग के विषय में उसे कुछ पता था। अपने शरीर तक के सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जानता था। वह अकेला नहीं था, बहुतों के साथ था। परन्तु किसके साथ कैसे व्यवहार करे—एतद्विषयक ज्ञान से भी वह सर्वथा शून्य था। ऐसी अवस्था में सृष्टि के रचयिता एवं संचालक परमात्मा का कर्त्तव्य था कि वह मनुष्य को प्रत्येक पदार्थ के नाम गुण तथा उपयोग के विषय में पूरी-पूरी जानकारी दे और यहाँ रहने के लिये अपेक्षित समस्त नियमों से अवगत करे।

स्वयं कट्टर ईसाई होते हुए भी प्रो० मैक्समूलर ने इस युक्ति को अपनी पुस्तक Science and Religion में इस प्रकार व्यक्त किया है।

"If there is a God who has created heaven and earth it will be unjust on his part if he deprives millions of his sons, born before Moses, of his divine knowledge. Reason and comparative study of religions declares that God gives his divine knowledge from his first appearance on earth."

अर्थात् यदि धरती और आकाश का रचयिता कोई ईश्वर है तो उसके लिये यह अन्यायपूर्ण होगा कि वह मूसा से पूर्व उत्पन्न अपने लाखों पुत्रों को अपने ज्ञान से वंचित रखे। तर्क और धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों घोषित करते हैं कि परमेश्वर सृष्टि के आदि में ही अपना ज्ञान मनुष्यों को देता है।

इस प्रकार सृष्टि में चराचर जगत् के संचालन, धारण, पोषण आदि के लिये अपेक्षित विधान का निर्माण करना अनिवार्य था। इसी में उसके विधाता नाम की सार्थकता थी। मनुष्यमात्र के प्रति समान व्यवहार की दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि ऐसा विधान सृष्टि के आरम्भ में बने। अतः परमात्मा ने मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही वेद के रूप में अपेक्षित ज्ञान का प्रकाश किया। **ऋतञ्च सत्यञ्चाभिद्धात्तपसोऽध्यजायत**—परमात्मा ने अपने ज्ञानबल से ऋत और सत्य के नाम से सम्पूर्ण विधि-विधान का निर्माण किया। महाभारत (शा० प० २३२-२४) में महर्षि वेदव्यास कहते हैं—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

सृष्टि के आदि में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी दिव्यवाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ जो नित्य है और जिससे संसार की प्रवृत्तियां चलीं। वहीं (म० भा० शा० प० २३२-२५, २६) पर आगे लिखा है—

नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः॥

यही बात मनुस्मृति (१-२१) में इन शब्दों में कही—

सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आदि में ही दयालु ईश्वर ने वेद का ज्ञान दिया

जिसके सहारे मनुष्य ने सृष्टि में रहना सीखा।

सृष्टि के आदि में ही वेदाविर्भाव की अनिवार्यता में युक्ति देते हैं—

ज्ञातृज्ञानयोरविनाभावात् ॥२३॥

ज्ञाता और ज्ञान में अविनाभाव सम्बन्ध होने से।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक साथ रहते हैं। प्रत्येक अवस्था में आत्मा को ज्ञाता स्वीकार किया जाता है। ज्ञाता के मान लेने पर ज्ञेय (चराचर जगत्) भी स्वीकार करना होगा। इन दोनों (ज्ञाता और ज्ञेय) की स्वीकृति से तीसरा ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस प्रक्रिया में ज्ञान, ज्ञाता का अनुषङ्गी है। इसलिये सृष्टि के आरम्भ में ज्ञाता मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही वेदज्ञान का आविर्भाव सर्वथा अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। यजुर्वेद (३४-५) में कहा है—

यस्मिन्नृचः साम यजू७ँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्त७ँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात् मनुष्य की आत्मा में सम्पूर्ण वेदज्ञान विद्यमान है। परन्तु उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति रजोगुण तथा तमोगुण का आवरण हटने और आवश्यक नैमित्तिक साधन उपलब्ध होने पर होती है ॥२३॥

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में कतिपय अन्य हेतु अगले कुछ सूत्रों में देते हैं—

ईश्वरस्य याथातथ्यतः स्वरूपाभिधानात् ॥२४॥

ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ वर्णन होने से।

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि उसके ज्ञान में उसके गुणकर्मस्वभाव का वर्णन वैसा ही होना चाहिये जैसा वह है। यह कैसे संभव है कि स्वयं परमेश्वर ही अपना यथायथ वर्णन न करे। ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। वेद में ईश्वर का इसी रूप में वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के ८वें मन्त्र में ईश्वर का वर्णन देखा जा सकता है ॥२४॥

सृष्टिक्रमाविरोधात् ॥२५॥

सृष्टि क्रम के विरुद्ध न होने से।

परमात्मा की एक संज्ञा कवि है। उस कवि के दो काव्य हैं—एक शब्दरूप जिसे वेद-चतुष्टय कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते है। एक ही काव्य के दो पृष्ट हैं—एक पर पद अंकित है और दूसरे पर पदार्थ। पहला न ममार

न जीर्यति—अजर और अमर है जबकि दूसरा नित्य परिवर्त्तनशील।

वेद के ईश्वरीय रचना माने जाने में कणाद ने यह तर्क दिया है कि धर्म पद वाच्य पदार्थों के रूप में विस्तृत जगत् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त किया जाता है उसका विवरण उसी रूप में वेदों में पाया जाता है। यह मान लेने पर कि इस नामरूपात्मक जगत् का रचयिता परमेश्वर है, यह मानना होगा कि उसकी प्रक्रिया को भी वही जान सकता है, न बनाने वाला मानव नहीं। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर रचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यथायथ वर्णन जिस ग्रन्थ में होगा वही ईश्वर की रचना होगा। जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्र का अथवा एक वैद्य किसी औषधि का निर्माण करता है और उसका विवरण देने के लिये एक ग्रन्थ की रचना करता है। दोनों में सामंजस्य होने पर यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचनायें हैं। वैसे ही वेद ब्रह्म का सिद्धान्त ज्ञान (Theory) है और सृष्टि उसकी प्रायोगिक (Practical) रचना है। इन दोनों में पूर्ण सामंजस्य तभी संभव है जब दोनों का रचयिता एक हो। विश्व की नामरूपात्मक उभयविध रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है। नाम शब्द है जो ऋग्वेदादि-रूप है और रूप जगदात्मक रचना है। अतः ब्रह्म के बनाये जगत् और उसी के द्वारा प्रादुर्भूत वेद में परस्पर समन्वय आवश्यक है। इसके अनुसार शास्त्र में ऐसा कोई वर्णन नहीं होना चाहिये जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो। शास्त्र से सृष्टि रचना का बोध होता है और प्रतिभाशील मानव के द्वारा सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा होती है।

जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपने सन्दर्भ ग्रन्थ Encyclopedia of Religion and Ethies में लिखा है—Swami Dayanand tried to make the book of God resemble the book of nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का यत्न किया। वास्तव में यदि वेद और सृष्टि एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों में समन्वय होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। ऐसा न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे मानचित्र (नकशे) को बनाने वाला एक ही व्यक्ति हो तो यह कैसे संभव है कि मानचित्र में तो दिल्ली को यमुना के किनारे स्थित दिखाये और पुस्तक के पृष्ठों में उसे गंगा के किनारे स्थित लिखे? संसार में कोई घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसकी व्याख्या न कर सकें।

सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। वे सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुणकर्म-स्वभाव सदा एक से रहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य

अग्नि आदि द्रव्यों का अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, बिना माता पिता के संयोग के सन्तानोत्पत्ति, बिना फल भोगे कर्म का क्षय, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता, ईश्वर का जीवों की भांति जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना, पृथिवी का चपटी होना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या है। 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'—वेद में जो कुछ है, बुद्धिपूर्वक है। उनमें सृष्टिक्रम के विरुद्ध एक भी वचन नहीं है। अतः इस आधार पर भी उनका अपौरुषेय होना सिद्ध है।

इंगलैंड के मनीषी डबल्यू डी० ब्राउन ने वेद की इस विशेषता का प्रतिपादन करते हुए अपनी पुस्तक "Superiority of Vedic Religion" में लिखा है—

"Vedic Religion is thoroughly scientific where science and religion meet hand in hand. Here theology is based on science and philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जहां विज्ञान और धर्म दोनों हाथ में हाथ डाल कर चलते हैं। यहाँ धार्मिक सिद्धान्त विज्ञान और दर्शन पर आधारित हैं।

लुई जैकालियट नामक विद्वान् ने मतमतान्तरों के सृष्टि उत्पत्ति विषयक मन्तव्यों का अनुशीलन करते हुये लिखा—

"Astonishing fact ! The Hindu Revelation, Veda, is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science."

(*The Bible in India*, vol. II, ch.1, by L. Jacolliot)

अर्थात् आश्चर्यजनक सचाई है कि एक हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है जिसके सृष्टि रचना विषयक सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुरूप हैं।

वैदिक धर्म के सिद्धान्तों और मान्यताओं के वैज्ञानिक आधार के कारण ही भारत में वैसे अत्याचार कभी नहीं हुए जैसे बाइबिल आदि को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले यूरोप में पृथिवी को गोल कहने और अनेक लोकों की सत्ता मानने वाले गैलिलियो और ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर हुए और जिनका विस्तृत वर्णन डा० विलियम ड्रेपर ने अपनी पुस्तक History of the conflict between Religion and Science में किया है ॥२५॥

भ्रमप्रमादविप्रलिप्साभावात् ॥२६॥

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा का अभाव होने से।

मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञान मिश्रित रहता है। अतः वह निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। ईश्वर में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की संभावना नहीं। अतः साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की आत्मा में सीधे परमेश्वर की प्रेरणा से प्राप्त ज्ञान भी

इन दोषों से सर्वथा मुक्त होना चाहिये । वेद में जो वाक्य रचना है, पद व पद-समूह की आनुपूर्वी हैं, वह सब बुद्धिपूर्वक है । वेद के इस रूप में भ्रम, प्रमाद आदि की संभावना नहीं हो सकती । निर्भ्रान्त परमेश्वर से प्रादुर्भूत होने के कारण वह निर्भ्रान्त है ।

बाइबल का परमेश्वर स्वयं भ्रम, प्रमादादि दोषों से आक्रान्त है । इसलिये उसे अपनी भूलों पर पश्चात्ताप होता है । Genesis के छठे अध्याय में परमेश्वर की सृष्टि में मनुष्य को उत्पन्न करने पर पश्चात्ताप का वर्णन है—

"And it repented the Lord that he made man on the earth and it grieved him at his heart. And the Lord said 'I will destroy man whom I have created, from the face of the earth; for it repented me that I have made him."

इससे पहले लिखा है—'God made man in his own image' अर्थात् परमेश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया । जिसे अपने जैसा बनाया उसे देख कर भी उसे इतना दुःख हुआ कि उसे नष्ट कर देने की घोषणा कर दी । भ्रम, प्रमाद आदि से ग्रस्त होने के कारण ही बाइबल के परमेश्वर को अपने किये पर पछताना पड़ा । ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करने वाले प्रायः सभी ग्रन्थ इस प्रकार बातों से भरे पड़े हैं । यही उनकी मानवीय रचना होने का प्रमाण है । सदसद् विवेक में मनुष्य की अन्तरात्मा का महत्त्वपूर्ण योगदान है । **सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः** आदि अनेकत्र उपलब्ध प्रमाणों से मनः साक्षी की उपयोगिता स्पष्ट है । परन्तु उसे पर्याप्त अथवा अन्तिम नहीं माना जा सकता । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न संवेदन या अनुभव अच्छे-बुरे वा पाप-पुण्य का एक समान मापदण्ड निर्धारित नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य होने के नाते उनके वे अनुभव, भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त नहीं हो सकते । ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण केवल वेद ही इस कसौटी पर खरा उतरता है ॥२६॥

वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् ॥२७॥

वृद्धि, क्षय और विपर्यय न होने से ।

पूर्ण एवं नित्य परमेश्वर से प्रादुर्भूत ज्ञान भी नैसर्गिक ज्ञान का बोधक होने से पूर्ण व नित्य होना चाहिये । आदि कवि सर्वज्ञ मनीषी है । अतः सर्ग के आरम्भ में समूचे ज्ञान का एक साथ आविर्भाव होना ही तर्कानुमोदित है । परमेश्वर के एकरस होने से उसका ज्ञान भी एकरस या अपरिवर्तनशील होगा । यदि उसे समय समय पर बदलते रहना पड़े तो ईश्वर में अज्ञान तथा अपूर्णता का आरोप सिद्ध होगा । समय समय पर मन्त्र प्रकाश या आयत नाज़िल होते रहने की बात उसे मनुष्य जैसा अल्पज्ञ बना देगी । मनुष्यों की समय समय की आवश्यकताओं और तदनुसार अपनी भूलों के परिमार्जन पर ही यह कल्पना आश्रित है । परन्तु अल्पज्ञों

का उदाहरण सर्वज्ञ पर नहीं घटाया जा सकता। मनुष्यों की संसद् तथा विधान सभायें नई नई परिस्थितियों से निपटने के लिये अपने बनाये कानूनों में संशोधन परिवर्धन करती रहती हैं— पुराने कानूनों को निरस्त कर नये कानून बनाती रहती हैं। यह सब जीव की अल्पज्ञता के कारण होता है। त्रिकालदर्शी होने से परमेश्वर को परिस्थितियों के अनुरूप अपने नियमों में परिवर्त्तन नहीं करना पड़ता। मनुस्मृति (१२.९६) में लिखा है—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

वेद से भिन्न अनेक ग्रन्थ बनते हैं और नष्ट होते रहते हैं। वे सब अर्वाक्काल (प्राचीन परम्परा के विपरीत) होने से निष्फल और मिथ्या होते हैं। परन्तु **पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति**—परमेश्वर का काव्य वेद न कभी पुराना पड़ता है और न नष्ट होता है।

वेद के सिद्धान्तों में कालभेद से किसी प्रकार का उलटफेर करना नहीं पड़ता। मनुष्य का ज्ञान बदलता रहता है। भूल प्रतीत होने पर वैज्ञानिकों को स्वयं अपनी मान्यतायें बदलते देखा गया है। बड़े बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के अनुसन्धान के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किये उन्हें आगे आने वाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला। डार्विन के विकासवाद अथवा फ़ायड के मनोविश्लेषण का आज वह स्वरूप नहीं रहा जो मूलतः उन्होंने निर्धारित किया था। यही अवस्था आइंस्टीन के सापेक्षवाद की है। परन्तु ईश्वर में भ्रमादि दोषों के न होने से उसके ज्ञान वेद में आज तक कोई भूल नहीं निकली। जहाँ जहाँ आधुनिक विज्ञान ने वैदिक सिद्धान्तों से मतभेद दिखाकर संघर्ष किया वहाँ आधुनिक विज्ञान को ही घूम फिर कर वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा। इसके अनेक उदाहरण हैं। दृष्टान्तरूप में यहां दो चार ही उपस्थित किये जाते हैं—

१. आधुनिक विज्ञान ने पहले अपने कल्पित आक्सीजन, हाइड्रोजन आदि को मूलतत्त्व माना। अन्वेषण से उनकी संख्या बढ़ती गई—६५,९३ ......। किन्तु अब विज्ञान के मत में शताधिक तत्त्व मौलिक नहीं, जन्य हैं। मौलिक तत्त्व तो तीन ही रह गये—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन जो हमारे सत्त्व, रजस् व तमस् के ही अपर नाम हैं।

२. सृष्टि की अब तक की आयु के विषय में भी मतभेद रहा। वेदोक्त युग प्रक्रिया के अनुसार सृष्टि कुछ न्यून दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है। पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थ केवल ५००० वर्ष पुरानी बताते थे। विज्ञान भी पहले बहुत थोड़ी आयु बताता था। परन्तु भूगर्भ विज्ञान ने उसकी आंखें खोल दीं। अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी क्रमशः दो अरब वर्ष तक पहुंच गये हैं। किन्तु भारतीय शास्त्रों की

भांति वे वर्ष, मास दिन आदि की पूरी पूरी गणना अभी तक नहीं कर पाये। उसमें अभी न जाने कितना समय लगेगा।

३. वैदिक विज्ञान शब्द को आकाश का गुण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान अब तक उसे वायु का गुण सिद्ध करने में लगा रहा। परन्तु रेडियो के आविष्कार ने उसकी थ्यूरी बदल दी। आज वे मान गये कि जितने काल में जितनी दूर शब्द पहुंचता है, वायु की गति उतनी नहीं। अब शब्द को ईथर या स्पेस का गुण माना जाने लगा है। ईथर और स्पेस दोनों ही हमारे यहां आकाश तत्त्व के अन्तर्गत हैं।

४. वृक्ष, लता आदि को विज्ञान पहले चेतन नहीं मानता था। वेदादिशास्त्र सदा से इन्हें चेतन मान कर जीव की भोगयोनि मानते रहे हैं। स्वनामधन्य जगदीश-चन्द्र वसु ने वैज्ञानिक परीक्षणों से वृक्षादि में प्राणसत्ता सिद्ध कर वैदिक विज्ञान को मान्यता प्रदान की।

५. पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में रहने वाले कालेपन को अभी अभी जाना है। परन्तु वैदिक विद्वान् वेदों के माध्यम से इस रहस्य को आदि काल से ही जानते हैं। आदित्य मण्डल के मध्य भाग में कालापन होने से ही वेदों में आदित्य को बहुधा **कृष्ण** नाम से पुकारा गया है। जैसे **कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदन्** (ऋग्वेद १.७९.२)। यहां कृष्ण पद से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है। जैमिनि ब्राह्मण में कहा है—**असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्याधिदैवतम्** (जै० ब्रा० २.२८) अर्थात् जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसमें जो प्रकाश करने वाला भाग है वह **संवत्** है और जो बीच में कृष्ण भाग है वह **सर** है। आदित्य मण्डल में रहने वाले ये काले धब्बे चलते रहने से **सर्प** कहाते हैं। इन सर्पों के कारण ही ताण्डय ब्राह्मण (२५-१५-४) में सर्प्या वा आदित्याः' कहा है ॥२७॥

सर्वज्ञानमयत्वात् ॥२८॥

सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार होने से।

वेद के संबन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की प्रारम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियां हैं। उनमें न परस्पर कोई संगति है और न सुलझे हुए विचारों की स्थापना। वे धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव जाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं उसी की छाया वेदमन्त्रों में है। इसी सूत्र को पकड़ कर पिछले सौ सवा सौ वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये। अपने देश में भी उनके मानस-पुत्र वैदिक विद्वान् इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं। उनके लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई वेद की व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। इसके विपरीत भारतीय परम्परागत

दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की शाब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है—

यद् भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति—मनु० १२-९७

भूत, वर्तमान और भविष्यत् सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का आधार वेद है। सायणाचार्य ने अपने तैत्तिरीय संहिता भाष्य के उपोद्घात में कहा—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जो अर्थ नहीं जाना जाता है वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।

इस तरह सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि का स्रोत वेद है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है और वेद उस सर्वत्र परमेश्वर द्वारा मानव मात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त ज्ञान है तो वह उसके लिये अपेक्षित पूर्ण ज्ञान होना ही चाहिये। उसकी अपूर्णता स्वयं वेदत्व का ही विघात करेगी। मनु का तो स्पष्ट मत है—**स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः** (मनु० २.७) अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया है क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का कोष है। दूसरे शब्दों में समस्त विद्यायें व ज्ञान वेद में हैं। वेद को **सर्वज्ञानमय** तभी कहा जा सकता है। यास्काचार्य ने वेद की विशेषता बताते हुए कहा—**पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे** (निरुक्त १.२)। अल्पज्ञ होने से मनुष्य की विद्या तो अनित्य है। परन्तु नित्य परमेश्वर का ज्ञान होने से वेद सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है। आज हम भले ही इस बात को सर्वांश में सिद्ध न कर सकें परन्तु वेद में समस्त विद्यायें होनी चाहियें, इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता।

वाचस्पति मिश्र ने वेद को लौकिक और पारलौकिक सुख के साधनों का मूल बताते हुए लिखा—

तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तद्बुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव भवितुमर्हति।

शास्त्रयोनित्वात्—वेदान्तदर्शन के इस सूत्र (१.१.३) की व्याख्या में स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।

अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करने वाले महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म ही है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्॥

'समस्त शास्त्रों का मूल वेद है'—याज्ञवल्क्य स्मृति का यह वचन अक्षरशः सत्य है। वैदिक वाङ्मय के जितने भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं सभी किसी न किसी रूप में वेद से जुड़े हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष विषयक समस्त ग्रन्थ वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं। विज्ञान और दर्शन विषयक हमारे महान् ग्रन्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा वेद के उपाङ्ग कहाते हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद और गन्धर्ववेद का नाम ही उपवेद है। समस्त उपनिषद् ईशोपनिषद् का विस्तार हैं और स्वयं ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय ही है। ब्राह्मणादि ग्रन्थ तो हैं ही वेद के व्याख्यान। श्रौत तथा गृह्यादि सूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक ग्रन्थ हैं। इन मुख्य ग्रन्थों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशुपक्षी पालन, कृषि, सिंचाई, वर्षा, उद्योगधन्धे, यातायात, ओषधि एवं चिकित्सा विज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, ज्योतिष, गणितशास्त्र, अन्तरिक्ष विज्ञान, राजनीति, शस्त्रविद्या, सैन्यसंचालन, ऋतुविज्ञान, भूगर्भविद्या, शिक्षा, भाषाविज्ञान आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक अथवा सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिये आवश्यक हो और वेद में उपलब्ध न हो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के 'वेदों में विज्ञान विषयक मन्तव्य' का विवेचन करते हुए योगी अरविन्द ने अपने निबन्ध 'Dayanand and the Veda' में लिखा है—

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that Veda contains truths of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of science which the modern world does not at all possess; and in that case, Dayanand has rather understated than overstated the depth and range of Vedic wisdom."

अर्थात् दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों की सचाइयां पाई जाती हैं कोई उपहासास्पद या कल्पनामूलक बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी भी धारणा जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में विज्ञान की वे सचाइयां भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के संबन्ध में अतिशयोक्ति से नहीं, न्यूनोक्ति से ही काम लिया है।

अमेरिकन विदुषी श्रीमती ह्वीलर विल्लौक्स (Mrs. Wheeler Willox) ने इस विषय में अपने उद्गार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—

"It (India) is the land of the great Vedas—the most remarkable works, containing not only religious ideas for a perfect life but also

facts which science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas."

यह (भारत) उन महान् वेदों की भूमि है जो अद्भुत ग्रन्थ हैं। जिनमें न केवल पूर्ण जीवन के लिये उपयोगी धार्मिक सिद्धान्त बताये गये हैं, अपितु उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रोन, वायुयान आदि सभी कुछ वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होता है।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारायण भवानीराव पावनी ने अपने ग्रन्थ 'Vedic India—Mother of Parliaments' में वेदों के विषय में लिखा—

"The Vedas are the fountain-head of knowledge, the prime source of inspiration, nay, the grand repository of Divine wisdom and even eternal truths."

अर्थात् वेद सम्पूर्ण ज्ञान का आदि स्रोत, ईश्वरीय प्रेरणा का मुख्य आधार, यहाँ तक कि, दिव्य बुद्धि तथा नित्य सत्य का महान् भण्डार हैं।

अपने दूसरे विश्वविख्यात ग्रन्थ 'The Vedic Fathers of Geology' में श्री पावनी ने **येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा** (ऋग्० १०.१२१.१), **या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा** (ऋग्० १०.६७.१), **स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाधराचीनमकृणोदपामपः** (ऋग्० २.१७.५), **यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्** (ऋग्० २.१२.२) इत्यादि मन्त्रों के आधार पर वेदों में भूगर्भ विद्या का मूल बताते हुए लिखा है—

"I may take this opportunity to remind the reader, without any fear of contradiction, that the vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth, that has still remained unexplored."

अर्थात् मैं बिना किसी खण्डन के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूँ कि वेदों में ऐसी बहुत बातें हैं जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं। वे उस साहित्यिक धन की अक्षय खान हैं जो अभी तक अज्ञात ही पड़ा है।

बम्बई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर वी० जा० रेले ने वेदों में जीव विज्ञान का विस्तृत विवरण पाकर अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'The Vedic Gods' में लिखा—

"Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rgveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without the thorough know-

ledge of which psychological deductions and philosophical speculations cannot be corretly made."

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी संस्थान की रचना सम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगत् विषयक वर्णनों से इतना मेल खाता है कि मन में प्रश्न उठता है कि क्या वेद वास्तव में धर्म ग्रन्थ हैं या वे शरीर विज्ञान और नाड़ी संस्थान की रचना विषयक ग्रन्थ हैं जिन्हें पूरी तरह जाने बिना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारों को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

श्री पन्यम् नारायण गौड़ ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक Introduction to the Message of the 20th century में इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों में भौतिकी और रसायन शास्त्र के तत्त्व स्पष्टतया पाये जाते हैं। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही पुस्तक के नाम के साथ उसके विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—containing a new method for the interpretation of the Vedas and experimental data proving that the vedas are treatises on the exact science.'

अर्थात् इस पुस्तक में वेदों की क्रमबद्ध व्याख्या की नई प्रणाली बताई गई है और इस बात को सिद्ध किया गया है कि वेद शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

बाइबल आदि की तरह वेद मत प्रतिपादक अथवा रूढ़ अर्थों में धार्मिक ग्रन्थ नहीं हैं। वैदिक धर्म में भौतिक और नैतिक जगत् में कार्य करने वाले सब अचल नियमों का, जिन्हें वेद में ऋत और सत्य के नाम से पुकारा गया है, समावेश है। चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय और मनुष्य के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जीवन से संबंधित सभी विषयों का प्रतिपादन वेदों में पाया जाता है ॥२८॥

देशकालानवच्छेदात् ॥२९॥

देशकाल से परिच्छिन्न न होने से।

ईश्वरीय ज्ञान देश-काल से परिच्छिन्न नहीं होता। वह सदा अनादि और अनन्त है। यदि ऐसा न हो तो यह मनुष्यमात्र का पथ प्रदर्शक नहीं हो सकता। जो ज्ञान किसी देश वा काल विशेष में सीमित रह जाता है, वह ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा नहीं कर सकता। देशभेद व कालभेद उन पदार्थों में आश्रय पाता है जो कभी और कहीं उद्भव में आते हैं। वेद शाश्वत ब्रह्म का रूप है। सर्गकाल में भी उसकी उत्पत्ति नहीं, केवल अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार प्रलय काल में उसका विनाश भी नहीं होता। वह मनुष्य मात्र के लिये है और सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन करता है। देशकाल से असम्पृक्त ब्रह्म का ज्ञान वेद भी उसी के समान नित्यव्यापी है ॥२९॥

व्यक्तिस्थानविशेषोल्लेखाभावात् ॥३०॥

व्यक्ति तथा स्थान विशेष का उल्लेख न होने से।

वेदों में अनेक पद ऐसे मिलते हैं जिनसे उनमें ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वर्णन होने का भ्रम होता है। उन शब्दों से व्यक्ति विशेष अथवा स्थान विशेष की प्रतीति होने के दो कारण हैं। मनुस्मृति का वचन है—'**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे**' अर्थात् मनुष्यों ने अपने तथा अपने व्यवहार में आने वाले पदार्थों के नाम वेदों में से चुन चुन कर रख लिये। कानपुर में किन्हीं पं० वेणी-माधव के चार पुत्र थे। उन्होंने उनके नाम राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न रख लिये। स्पष्ट है कि ये नाम पं० वेणीमाधव के परिवार से रामायण में नहीं गये, अपितु रामायण से उनके परिवार में आये। तात्पर्य यह है कि वेदों में वे शब्द पहले से थे। बाद में लोग शब्द के अर्थ के अनुरूप किसी व्यक्ति, स्थान वा पदार्थ को उस नाम से पुकारने लगे। जैसे सबसे मैत्री भाव रखने वाले को **विश्वामित्र** नाम से पुकारने लगे। इसी प्रकार बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित अजेय नगरी का नाम **अयोध्या** रख लिया। इस प्रकार वेद में जो शब्द यौगिक थे, लोक में रूढ़ हो गये।

वस्तुतः **नामान्याख्यातजानि** (निरुक्त १-१२) के इस वचन के अनुसार वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। प्रकृति—प्रत्यय के योग से अपना अर्थ बताते हैं। **बह्वर्था अपि धातवः** (महाभाष्य १.३ १) के इस वचन के अनुसार धातु अनेकार्थक होते हैं। साथ ही एक शब्द की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति का सिद्धान्त भी सर्वमान्य है। इस प्रकार धातुओं के अनेकार्थत्व तथा शब्दों के अनेक धातुजत्व के कारण एक एक शब्द कितने अर्थों का वाचक होगा—यह समझने की बात है। अतः लौकिक रूढ़ शब्दों की भांति वेद के यौगिक शब्दों के अर्थों का यथार्थ ज्ञान लौकिक कोशों के आधार पर प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये महर्षि यास्क का कथन है **अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते**—वेदमन्त्रों का अर्थ निरुक्त अर्थात् निर्वचन विद्या के बिना ठीक ठीक नहीं समझा जा सकता।

वेद में अनित्य इतिहास नहीं—इस विषय में यास्काचार्य की स्पष्ट घोषणा है कि वेदों में अनेकत्र औपचारिक या आलंकारिक वर्णन पाये जाते हैं। स्वयं यास्क ने निरुक्त (१२-१०) सरण्यू विषयक मन्त्र की व्याख्या करते हुए **तत्रेतिहासमाचक्षते** कह कर आख्यान लिखा है। परन्तु अगले ही खण्ड में उस आख्यान सम्बन्धी ऋचा की व्याख्या करके अन्त में स्पष्ट कर दिया कि सरण्यू विषयक उल्लेख किन्हीं व्यक्तिविशेष का इतिहास न होकर रात्रि और सूर्यादिक प्राकृतिक पदार्थों का आलंकारिक वर्णन है। इसी प्रकार सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने **देवापि और शन्तनु** को **विद्युत् और जल** का

वाचक बताकर उन मन्त्रों की ही संगति नहीं दिखाई अपितु सारे निरुक्त शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अपनी निरुक्त की टीका (भाग २, पृ० ७८) में लिखा—

"**एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमानेषु नित्येषु च पदार्थे योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्।**"

वेदार्थविषयक इन सिद्धान्तों के न समझने से ही वेदों में व्यक्ति अथवा स्थान विशेष का उल्लेख होने की प्रतीति होती है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम **वेदार्थ-प्रक्रिया** के प्रकरण में करेंगे ॥३०॥

वेद के अपौरुषेयत्व का विवेचन करने के बाद वेद के प्रामाण्य का निर्देश करते हैं—

ईश्वरोक्तत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सूर्यवत् ॥३१॥

ईश्वरोक्त होने से वेद स्वतः प्रमाण हैं, सूर्य की भांति।

प्रामाण्य स्वतः सिद्ध नहीं होता। कारण में गुण होने से ही प्रमाण में प्रामाण्य आता है। शब्द में यदि वक्ता आप्त हो तभी प्रामाण्य माना जाता है। सर्वज्ञ होने से परमेश्वर परम आप्त है। अतः उसे वेद का वक्ता मान लेने पर वेदों के स्वतः प्रामाण्य में कोई सन्देह नहीं रहता। वैशेषिक दर्शन (१-१-३) में **तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्** तथा सांख्य दर्शन (५-६१) में **निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्** कह कर ईश्वरोक्त होने से वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन (२-२-६८) की दृष्टि से आप्तोक्त होने तथा मीमांसा की दृष्टि से अपौरुषेय होने के कारण वेद का स्वतः प्रामाण्य है। इन दोनों मन्तव्यों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः मीमांसकों ने अपौरुषेय होने से वेदों को दोषरहित और दोषरहित होने से स्वतः प्रमाण माना है। मानव का ज्ञान किसी भी अवस्था में पूर्ण तथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। उसके साथ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष सदा लगे ही रहेंगे। कितना ही ज्ञानी हो जाये, वह इससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। वेद का स्वतः प्रामाण्य तभी संभव है जब उन्हें अपौरुषेय माना जाये।

स्वतः प्रमाण की व्याख्या आचार्यों ने विविध प्रकार से की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वतः प्रामाण्य का यौगिक अर्थ लिया है, पारिभाषिक नहीं। वेदों के स्वतः प्रामाण्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—"वेद विषय में जहां प्रमाण की आवश्यकता हो, वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है—जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होकर सब द्रव्यों को प्रकाशित करते हैं वैसे ही वेद अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होकर अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं ॥३२॥

वेद के स्वतः प्रमाण होने में एक अन्य हेतु देते हैं—

मूले मूलाभावात् ॥३२॥

मूल में मूल के अभाव से (वेदों का स्वतः प्रामाण्य है)।

अन्य शास्त्रों वा काव्यादि के प्रतिपाद्य अर्थों का ज्ञान उनके वक्ता को लौकिक प्रमाणों से होता है। दूसरे प्रमाणों से अर्थ का साक्षात्कार करके वे स्वतंत्र रूप से शब्द प्रयोग करते हैं। इसलिये वे ग्रन्थकर्ता कहाते हैं। किन्तु वेद का ज्ञान प्रमाणान्तर से संभव नहीं। वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ अभी तक किसी ने नहीं माना। अतः उसका स्रोत कोई दूसरा नहीं हो सकता। अन्य ग्रन्थों का ज्ञान वेद से उनके अर्वाचीन होने से वेदमूलक माना जा सकता है। वेदों का अन्य कोई स्रोत या मूल न होने से उनका स्वतः प्रामाण्य युक्तियुक्त है ॥३२॥

इसी विषय में एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च ॥३३॥

और मन्त्रगत आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान।

मन्त्र से तात्पर्य यहाँ वेद से है। वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद प्रत्यक्षरूप से उपदिष्ट है उसके प्रामाण्य की सत्यता अर्थात् उसके अनुसार कार्यानुष्ठान से अनुकूल फल की प्राप्ति लोक में सिद्ध है। वेद के एक भाग के प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जाने पर उसका अतीन्द्रिय विज्ञान का प्रतिपादक भाग भी प्रमाणित हो जाता है। जो ईश्वर प्रत्यक्ष विषयभूत आयुर्वेद का कर्त्ता है वही इन्द्रियातीत विषय का प्रतिपादन करने वाले भाग का भी है। इसलिये सम्पूर्ण वेद का कर्त्ता एक होने से सम्पूर्ण वेद का ही समान रूप से प्रामाण्य है ॥३३॥

वेद से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों के प्रामाण्य की स्थिति का कथन करते है—

वेदानुकूलत्वे प्रामाण्यमितरेषाम् ॥३४॥

वेद में अनुकूल होने पर अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य है।

वेदांग, उपांग, उपवेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थ आदि सभी मनुष्योक्त हैं। इनके रचयिता साक्षात्कृतधर्मा लोकपुरुष थे। यथार्थ होने से उनका प्रामाण्य है। फिर भी मनुष्य में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की संभावना बनी रहती है। अल्पज्ञ जीव पूर्णज्ञानी एवं निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। अतः उसकी रचना के अज्ञानमिश्रित होने की संभावना है। अतः ऋषियों का कथन ब्रह्मवाक्य वेद के समान स्वतः प्रमाण न होकर परतः प्रमाण होगा। अर्थात् ये तथा अन्य मनुष्यकृत ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण माने जा सकते हैं जहां तक वे वेद के अनुकूल हों। **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्**—मीमांसा (२-३-२) के इस सूत्र में जैमिनि मुनि ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ॥३४॥

वैदिक वाङ्मय तथा हमारे धर्म ग्रन्थों में स्मृतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे व्यावहारिक जीवन का मुख्य आधार वही हैं। तथापि वेद की तुलना में वे गौण हैं। इस विषय का प्रतिपादन अगले सूत्र में किया है—

श्रुतिस्मृतिविरोधे श्रुतेः प्रामाण्यम् ॥३५॥

वेद और स्मृति में परस्पर विरोध होने पर वेद का प्रामाण्य होगा।

ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है—**यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः।** अर्थात् मनु का वचन सर्वोपरि है। स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों की तुलना में मनुस्मृति का महत्त्व बतलाते हुए बृहस्पति कहते हैं—

तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च।
चतुर्वर्गस्योपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ॥

मनुस्मृति के इस महत्त्व का कारण उसका वेदानुकूल होना बताकर वेद के विरुद्ध होने पर उसकी उपेक्षा का कथन करते हुए कहते हैं—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्त्रार्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥

अर्थात् वेदानुकूल होने के कारण ही मनुस्मृति का महत्त्व है। वेद के विपरीत होने पर मनुस्मृति का कथन भी मान्य नहीं हो सकता। जिन मनु के लिये **यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः स सर्वोऽभिहितो वेदे** कहा गया है उन्होंने वेद को परम प्रमाण मानते हुए कहा—**धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।**

जाबाल स्मृति का भी वचन है—**श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।** इसी प्रकार भविष्यपुराण में कहा है—**श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।** श्रीमध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ) ने अपने सिद्धान्तों के समर्थन में प्रायः वेदों के ही प्रमाण उद्धृत किये हैं। कहीं कहीं पुराणों के वचनों को भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। परन्तु उनके विषय में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—

पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव च नादरः।
तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति ॥

अर्थात् पुराणों के उपजीव्य (आधार ग्रन्थ) वेद ही हैं। अतः वेद विरुद्ध होने पर उन्हें कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है ॥३५॥

अब वेद के आविर्भाव की प्रक्रिया का विवेचन करते हैं। सबसे पहले वेद के ईश्वर से प्रादुर्भूत होने का कथन करते हैं—

ब्रह्मनिःश्वसितं वेदचतुष्टयम् ॥३६॥

ब्रह्म से श्वासोच्छ्वास की भाँति वेद प्रकट हुए।

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य—मैत्रेयी संवाद में कहा है—**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः**—हे मैत्रेयी ! उस महान् परब्रह्म परमेश्वर से चारों वेद श्वास-प्रश्वास की भांति निःश्वसित अर्थात् प्रकाशित हुए। वेदान्तदर्शन के सूत्र **शास्त्रयोनित्वात्** (१-१-३) के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने लिखा—**महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।** अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करने वाले ऋग्वेदादि महान् शास्त्र का कारण ब्रह्म है। सर्वज्ञ ब्रह्म को छोड़ कर और कौन है जो ऐसे शास्त्र की रचना कर सके।

निःश्वसित कहने का अभिप्राय यह है कि वेद का प्रकाश करने में परमेश्वर को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा। अपितु श्वासोच्छ्वास की भांति स्वाभाविक रूप से वह अनायास ही हो गया ॥३६॥

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है जिसे पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित करते हैं—

निरवयवादीश्वराच्छब्दमयो वेदः कथमुत्पद्येत ॥३७॥

निरवयव ईश्वर से शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हुआ ?

वेद तो शब्दरूप है। शब्दोच्चारण में जिह्वा, कण्ठ, तालु आदि का प्रयोग अनिवार्य है। परन्तु परमेश्वर निराकार अर्थात् अकाय होने से इन देहांगों से रहित है। अतः उससे शब्द रूप वेद कैसे प्रादुर्भूत हो सकते हैं ? ॥३७॥

इस शंका का समाधान करते हुए उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

विचारणावसरे मनसि शब्दोद्भावनवत् ॥३८॥

विचार करते समय मन में होने वाले शब्दोच्चारण के समान।

आगम शास्त्रों के अनुसार वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से परा तो आत्मा की मुख्य शक्ति रूप है। उसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता। पश्यन्ती वह वाक् है जिसमें शब्द और अर्थ एक रूप में रहते हैं। दोनों का विभाग नहीं होता। इसे केवल प्रकाश रूप कह कर शास्त्रों में वर्णन किया गया है। मध्यमा में शब्द और अर्थ का विभाग हो जाता है। किन्तु शब्द मन ही मन में मण्डराते रहते हैं। कण्ठ-तालु आदि का कोई व्यापार उसमें नहीं होता और न उन शब्दों को अन्य कोई सुन सकता है। इसे लोक में मन में बात करना कहते हैं। चौथी वाक् वैखरी कहाती

है। यह दो भागों में विभक्त है—एक उपांशु भाषण अर्थात् कानाफूंसी और दूसरा उच्चैः स्वर का भाषण जिसे सब कोई सुन सकते हैं। इनमें परा, पश्यन्ती और मध्यमा में कण्ठ तालु का व्यापार अपेक्षित नहीं होता है। ईश्वर की वाणी मुखर नहीं होती। जिन चार ऋषियों के चित्त राजस, तामस आदि वृत्तियों से असम्पृक्त थे उन्होंने अपने स्वच्छ-निर्मल-निर्दोष चित्त को परमेश्वर की सर्वज्ञता में 'तत्स्थ' किया तो उनके स्फटिक मणि तुल्य निर्मल चित्त में परमेश्वर का ज्ञान अंकित होता चला गया। इस प्रकार मध्यमा वाक् द्वारा वेद उन ऋषियों को प्राप्त हुए। न बोलने के लिये परमात्मा को वाणी की आवश्यकता हुई और न सुनने के लिए ऋषियों को कानों की। ऋषियों ने वैखरी वाणी द्वारा वेदों को प्रसारित कर दिया। **ऋग्वेद** (२०.७१.३) में कहा है—**अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्** अर्थात् ऋषियों में प्रविष्ट वाणी को मनुष्य ग्रहण करते हैं ॥३८॥

सृष्ट्युत्पत्तिवच्च ॥३९॥

और सृष्टि की उत्पत्ति के समान।

इन्द्रियों—हाथ-पैर के न होने पर भी निराकार परमेश्वर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करता है। साधनरूप में हाथ पैर आदि अवयवों की आवश्यकता अपने से बाहर क्रिया करने के लिये पड़ती है। बाहर पड़ी वस्तु को उठाने के लिये हाथ की आवश्यकता होती है किन्तु स्वयं हाथ को उठाने के लिये नहीं। सारा संसार उस विराट् प्रभु के विराट् शरीर में स्थित है। परमेश्वर **तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः** (यजु० ४०.५) सबके बाहर भीतर ओतप्रोत है। अतः उसे अपने से बाहर कोई भी क्रिया नहीं करनी होगी। फिर, उसे करणों (इन्द्रियों) की अपेक्षा क्यों हो? श्वेताश्वतरोपनिषद् (३-१८) में कहा है—**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता** —अर्थात् उसके हाथ पैर नहीं हैं, पर इनके बिना ही वह सर्वत्र प्राप्त है और सबको थाम रहा है। जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बिना हाथ पैर के अपने असीम सामर्थ्य से अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना करता है उसके लिये आदि मानव के मस्तिष्क में वाणी के बिना ज्ञान का संक्रमण करना अत्यन्त साधारण बात है।

जैसे पृथिव्यादि जगत् के प्रादुर्भाव के लिये जगत् की उपादान-प्रकृति को वह प्रेरित करता है वैसे ही मनुष्यमात्र के अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये सर्गादि काल में उसी की व्यवस्था से सर्वप्रथम प्रादुर्भूत ऋषियों की आत्मा में सार्थक शब्दोच्चारण की भावना को वह उद्भावित करता है। उसी प्रेरणा से नित्यानुपूर्वीयुक्त वेद शब्द ऋषियों के मस्तिष्क में प्रस्फुटित होते हैं ॥३९॥

आत्मान्तरे व्याप्तित्वात्तत्सिद्धिः ॥४०॥

आत्मा में विद्यमान होने से उसकी सिद्धि होती है।

भाषा विचारों के आदान प्रदान का माध्यम है। वाणी से शब्दोच्चारण की आवश्यकता अपने से भिन्न व्यक्ति को बोध कराने के लिये होती है। अर्थात् जब उपदेश्य और उपदेष्टा में दूरी हो तो भाव संक्रमण के लिये वर्णोच्चारण की अपेक्षा होती है। परन्तु जब अपने से बात करनी होती है अर्थात् जब हम चुपचाप बैठ कर किसी विषय का चिन्तन करते हैं तो उस समय की संकल्प-विकल्प अथवा प्रश्नोत्तर की शृंखला में कण्ठ-तालु-जिह्वा आदि के व्यापार के बिना ही हमारे मन में सूक्ष्म रूप में भाषा बोली जा रही होती है। वह मन ही मन बोली जा रही सूक्ष्म भाषा हमारे द्वारा बोली जाने वाली स्थूल भाषा के संस्कारों की स्मृतिरूप होती है। सृष्टि के आदि में जब ऋषियों को परमात्मा वेद का ज्ञान देता है तो सर्वान्तर्यामी होने के कारण वहाँ विद्यमान होता हुआ उनकी आत्मा में वेद और उसकी भाषा के संस्कार डालकर उन्हें उद्बुद्ध कर देता है। तब अर्थों को जानते हुए उस शब्दराशि को वे ऐसे ही उच्चारण करने लगते हैं जैसे कोई व्यक्ति पूर्वाभ्यस्त वाक्यों को निद्रा से जाग कर उच्चारण करता है। यह समस्त प्रक्रिया जीवात्मा के मस्तिष्कगत हृदय प्रदेश में होती है। वहीं पर स्थित परमेश्वर से जीवात्मा को यह प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः शब्दों के उच्चारण द्वारा उपदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती ॥४०॥

एक आत्मा द्वारा दूसरी आत्मा में ज्ञान का संक्रमण कैसे होता है, एक लौकिक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं—

अभिमर्शप्रक्रियावत् ॥४१॥

अभिमर्श की प्रक्रिया के समान।

एक आत्मा के द्वारा दूसरी आत्मा में भाषा तथा भावों का इस प्रकार संक्रमण किया जाना कोई अलौकिक प्रक्रिया (process) नहीं है। मैस्मेरिज़म एक अत्यन्त निम्न स्तर की योगसिद्धि है। ध्यान की एकाग्रता द्वारा किसी व्यक्ति को प्रभावित करने वाली इस विद्या को जानने वाला अपनी संकल्पशक्ति से दूसरे व्यक्ति पर मैस्मेरिज़म करके उससे जो चाहे करा सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा मैस्मेरिज़म करने वाला व्यक्ति के मन में अपनी भाषा को संक्रमित कर देता है। इस प्रकार जो भाषा प्रयोजक जानता है उस भाषा को वह न जानने वाले व्यक्ति से बुलवा सकता है। कालिज के अनपढ़ चपरासी से अंगरेज़ी और जर्मन में धारा-प्रवाह भाषण कराते और ब्लैक बोर्ड पर बी० ए० स्तर के गणित के प्रश्न हल कराते देखा गया है। जब एक सामान्य जन अभ्यास के द्वारा मनोबल से अपनी सुप्त विविध शक्तियों को जागृत करके अपने विशिष्ट सामर्थ्य से अपने से भिन्न व्यक्ति के मन में अपनी भाषा और भावों का संक्रमण कर सकता है और प्रभावित व्यक्ति प्रयोजक अथवा संक्रान्ता की इच्छानुसार व्यवहार करने को विवश हो जाता

है तो जीवात्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी तथा सर्वशक्तिमान् प्रभु के द्वारा तो ज्ञान-संक्रमण होना अनायास ही सर्वथा संभव है। फिर, सर्ग के आदि में जिन ऋषियों के आत्मा में वह ज्ञान का संक्रमण करता है वे भी विशिष्ट आत्मा होती हैं, मानो वेद को प्रकट करने के लिये माध्यम रूप में उसका प्रादुर्भाव होता है। इस भांति अपना ज्ञान देने के लिये सर्वान्तर्यामी परमेश्वर को मुख, जिह्वा आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती ।।४१।।

किन्तु शब्द मात्र के ज्ञान से तो संसार का व्यवहार नहीं चल सकता। शब्द के साथ जब तक उसके अर्थ का ज्ञान न हो तब तक शब्द का कोई उपयोग नहीं हो सकता। इस विषय का विवेचन अगले सूत्र में किया है—

वाच्यवाचकोपेतं तज्ज्ञानम् ।४२।।

वाचक (शब्द) तथा वाच्य (अर्थ) से संयुक्त वह ज्ञान था।

ऋचाओं के आविर्भाव के साथ अन्तःप्रेरणा से ही ऋषियों को उनके अर्थ का उद्बोधन हुआ। यहाँ अर्थ पद से पदार्थ का ग्रहण होता है। पदार्थ ही शब्द का अर्थ है। पद वेद में थे, पदों के अर्थ-पदार्थ सृष्टि में थे। उन पदार्थों के अस्तित्व में आने पर उनके वाचक शब्द ईश्वरीय नियमानुसार उच्चारित हुए। उस उद्बोधन के आधार पर ही ऋषियों ने सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का नामकरण किया। वेद के मूल शब्द यौगिक थे। अब वे योगरूढ़ि भी होने लगे। जब तक शब्द यौगिक या योगरूढ़ि रहते हैं तब तक उनके अर्थ बहुव्यापी होते हैं। कालान्तर में ये शब्द पारिभाषिक बनते गये और अनेक अर्थों में रूढ़ि बन गये।

ऋषियों की आत्मा में शब्दमय ज्ञान हुआ—**अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या** (अथर्व० ३-३०-१) अर्थात् आपस में तुम ऐसे प्यार करो जैसे गाय अपने सद्योजात बछड़े से करती है। इन शब्दों के साथ ही ऋषियों की आत्मा में बछड़े को प्यार करती हुई गाय का चित्र भी अंकित हो गया। जिस प्रकार एक इंजीनियर पहले अपने मन में किसी मकान या पुल का चित्र बना लेता है और फिर उस चित्र के आधार पर वैसा ही मकान या पुल का निर्माण कर लेता है उसी प्रकार वेद के शब्दों से सूचित होने वाले विभिन्न पदार्थों के, परमात्मा द्वारा अपने मन में उत्पन्न किये गये चित्रों के आधार पर आदि सृष्टि के ऋषियों ने उन-उन पदार्थों की रचना कर डाली।

कृषि सम्बन्धी अथर्ववेद ३.१७ तथा ऋग्वेद १०.१०१.३) से ६ मन्त्रों का उपदेश देते समय परमात्मा ने ऋषियों के मन में इन मन्त्रों के शब्दों से सूचित होने वाले पदार्थों के चित्र उत्पन्न कर दिये। हल और उसका जुआ, बैल के गले में पड़ने वाले जोत, हल में जुती हुई बैलों की जोड़ी, खेत में बोया हुआ बीज, खेत में खड़ी हुई खेती, दरांती और उससे काटी जाती हुई फसल, बैलों से

गाहना और फिर छाज में डाल कर उड़ाना आदि सब पदार्थों और उनसे होने वाली क्रियाओं के चित्र ऋषियों के मन में उत्पन्न हुए। आदिम ऋषियों ने फिर यह सब कुछ दूसरों को सिखा दिया। इस प्रकार एक दूसरे से सीखने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार आरम्भ में परमेश्वर द्वारा ज्ञान का प्रवाह चालू कर देने पर मनुष्यों की बुद्धि का विकास होता गया। कालान्तर में अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर नये नये पदार्थ भी बनाने लग गये ॥४१॥

कुछ लोगों की मान्यता है कि मूल रूप में एक ही वेद था। महर्षि वेदव्यास ने उसे चार भागों में बांट कर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में प्रस्तुत किया। इस मान्यता को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करते हैं—

आद्य एको वेदश्चैके ॥४३॥

पहले एक ही वेद था—कुछ आचार्यों का ऐसा मत है।

भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य में, दुर्गाचार्य ने निरुक्त (१-२०) की टीका में तथा महीधर ने यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में भागवत पुराण के १२वें स्कन्ध के छटे अध्याय के आधार पर लिखा है कि ब्रह्मा से परम्परा द्वारा प्राप्त वेद के चार विभाग महर्षि वेदव्यास ने किये। विष्णु पुराण (३-६) में कहा है—**आद्य एको यजुर्वेदश्चतुर्धा व्यकल्पयत्**' अर्थात् आदि काल के यजुर्वेद के चार विभाग वेदव्यास ने किये। अग्निपुराण में भी लिखा है—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः।
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत् ॥

अर्थात् चार भागों में विभक्त होने से पूर्व एक यजुर्वेद था जिसमें शतसाहस्र अर्थात् एक लाख मन्त्र थे। मत्स्यपुराण (१४४-१०) तथा विष्णु पुराण (३-३-१९) में भी इसी मत का अनुमोदन किया है ॥४३॥

अब उत्तर पक्ष के रूप में इस मत का खण्डन करते हैं—

चतुष्टयं चान्ये ॥४४॥

(सृष्टि के आदि से ही) वेद चार हैं, ऐसा अनेकों का मत है।

स्वयं वेदों, वेदोत्तर वाङ्मय तथा अन्य आप्त वचनों से प्रमाणित है कि सृष्टि के आदि में ही एक साथ चारों वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। वेदव्यास द्वारा वेद के चार विभाग किए जाने की कल्पना अयुक्त तथा सर्वथा असंगत है। व्यास के पूर्व तो उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे और उनमें वेदों की शाखाओं तथा उन शाखाओं में प्रक्षेपों तक का वर्णन है। यह हो सकता है कि वेदव्यास ने अपने समय में भिन्न भिन्न बहुत सी शाखायें बन जाने के कारण ब्राह्मण और श्रौतसूत्रादि का निश्चय कर दिया हो कि किस किस शाखा का कौन

कौन सा ब्राह्मण है। यह भी संभव है कि उन्होंने शाखाओं का प्रवचन या उनकी व्यवस्था की हो। चारों वेदों का आदिकाल से एक साथ होना सिद्ध करने के लिये हम यहाँ अनेकत्र उपलब्ध प्रमाणों में से कुछेक प्रस्तुत करते हैं—

१. यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः। ऋग्० ४-३५-६

२. ब्रह्म प्रजापतिर्विधाता वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः। अथर्व० १९-९-१२
उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में (अन्यत्र भी) **वेद** का बहुवचनान्त **वेदाः** प्रयुक्त हुआ है।

३. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ ऋग् १०-९०-९
यह मन्त्र ज्यों का त्यों यजुर्वेद (३२-७) तथा छन्दांसि के स्थान पर छन्दोह के साथ अथर्ववेद (१८-६-१३) में भी आया है।

४. यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिश्चित्त ँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

५. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥ अथर्व० १०.७-२०

६. स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च।
स्वर्देवा अगन्म। यजु० १८-२९

७. ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये......।
यजु० ३६-१ व शा० श्रौ० ६-२-२

८. सुपर्णोऽसि गरुत्मान्......स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूँषि नाम साम ते तनूः। यजु० १२-४
यह मन्त्र कई स्थानों पर आया है। जैसे श० ब्रा० ६-७-२-६, तै० सं० ४-१-१०-५, मैत्रा० सं० १६-८, शाखायन गृ० सू० १-२२-१५

९. ऋचो नामास्मि यजूँषि नामास्मि सामानि नामास्मि।
यजु० १८-६७

१०. ऋक् साम यजुरुच्छिष्टे। अथर्व० ११-७-५

११. यत्र ऋषय प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही। अथर्व० १०-७-१४

१२. स उत्तमां दिशमनुव्यचलत्।
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।
अथर्व० १५-६-७

१३. ब्रह्मणो यस्यामर्चयन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः। अथर्व० १२-१-३८

१४. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ अथर्व० ११-७-२४

१५. चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे·······ऋग्० ४-५८-३
यह मन्त्र यजुर्वेद (१७-९१) तथा गोपथ ब्राह्मण (१-१६) में भी आया है । निरुक्तकार, महाभाष्यकार आदि सभी ने चत्वारि शृङ्गाः का अर्थ चार वेद ही किया है ।

१६. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः । शत० ब्रा० १४-५-४ व बृहद्० उप० ३-४-१०

१७. त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत ।
यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात् ॥ ऐत० ब्रा० २५-७

१८. गोपथ ब्राह्मण (१-१-१६ व ३-१) में चारों वेदों का नाम निर्देश करने के पश्चात् चार ऋत्विजों में कौन किस वेद का पण्डित हो इसका निर्देश करते हुये लिखा है—
ऋग्वेदमेव होतारं वृणीष्व यजुर्वेदविदमध्वर्युं सामवेदमुद्गाथारम् अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् । तथा ह्यस्य यज्ञः चतुष्पात् प्रतिष्ठति ।

१९. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः । मुण्डक० उप० १-१-५

२०. ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदाथर्वणं चतुर्थम् ।
छा० उप० ७.७.२

२१. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ मनु० १-२३

२२. चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः । महाभाष्य पस्पशाह्निक ।

२३. चतुर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । महाभाष्य ५-१-१

२४. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥
बा० रा० कि० काण्ड ३-२८

२५. त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तमथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥
महाभारत शा० पा० २३५-१

२६. वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीता। म० भा० द्रो० प० २१-२२

२७. ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव। म० भा० स० प० १२-३१

२८. यज्ञा वेदाश्च चत्वारः। म० भा० व० प० २१५-२२

२९. ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः।
म० भा० व० प० १८७-१४

३०. ऋचो यजूंषि सामानि छंदांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदा सरहस्याःसविस्तराः॥ हरि० पु०

३१. यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः। पद्म पु० ५-१-५०

३२. विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥ सर्वानुक्रमणी

३३. चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते। षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणी-वृत्ति की भूमिका

३४. जैमिनि मुनि कृत मीमांसा शास्त्र में २-१-३५ से ३७ सूत्रों के अनुसार त्रयी विद्या वेद चतुष्टय का ही नाम है।

३५. भेषजं वा आथर्वणानि। ता० ब्रा० १२-९-१०

३६. अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः। बा० रा० बा० काण्ड ८-६

३७. अथर्ववेदप्रवराः। म० भा० आ० प० ६४-३३

३८. राज्ञश्चाथर्ववेदेन सर्वकर्माणि कारयेत्। म० भा० शा० प० ७०-५०

३९. आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थवेद—इन चार उपवेदों के होने से भी वेदों का चार होना प्रमाणित है।

३०. महाभारत को पंचम वेद कहे जाने से भी स्पष्ट है कि पहले वेद चार थे।

४१. सायण ने अथर्ववेद (१९-९-१२) का भाष्य करते हुए वेदाः शब्द का अर्थ किया है—वेदाः साङ्गाश्चत्वारः।

४१. इस सन्दर्भ में चरक संहिता अध्याय ३० का यह उद्धरण द्रष्टव्य है—

तत्र चेत्प्रष्टारः स्युः चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्त्यायुर्वेदविदः। तत्र भिषजा पृष्टेनैवञ्चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदोऽह्यथर्वणः स्वस्त्ययनवलिमंगलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह।

यदि कोई यह प्रश्न पूछे कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में से आयुर्वेदज्ञ किस वेद का उपदेश करते हैं तो वैद्य को उत्तर देना चाहिये कि ऋगादि चारों वेदों में से अथर्ववेद में आयुर्वेद का उपदेश है। क्योंकि अथर्ववेद में ही

स्वस्त्ययन, वलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, मन्त्र आदि द्वारा चिकित्सा का विधान किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों में अधिकतर निर्विवाद रूप से महाभारतकाल से पहले के हैं। इनके होते हुए वेदव्यास द्वारा एक वेद के चार वेदों में विभक्त किये जाने की ही कल्पना सर्वथा असंगत है। अथर्ववेद सहित चारों वेदों की सत्ता पहले से युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध है ॥४४॥

वेद के चतुष्पाद कथन किये जाने को स्पष्ट करते हैं—

चतुष्पादो देहवत् ॥४५॥

शरीर के समान वेद चतुष्पाद है।

जिस प्रकार सिर, हाथ, पैर, पेट आदि सब मिल कर एक शरीर होता है और आत्मा, बुद्धि, मन व स्थूल शरीर मिल कर एक पुरुष कहाता है, वैसे ही चारों वेद मिलकर एक वेद (ज्ञान) कहाते हैं। इसी रूप में वे चतुष्पाद हैं। चारों वेदों में ज्ञान दृष्टि से एकता निःसन्देह है। परन्तु जैसे शरीर में प्रत्येक अंग और पुरुष में प्रत्येक अन्तःकरण की अपनी सत्ता और विशेषता है वैसे ही प्रत्येक वेद की अपनी एक सत्त्वरूप विशेषता है जिसके कारण प्रत्येक वेद का अन्य वेदों की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व है ॥४५॥

कतिपय वेदमन्त्रों को देखने पर आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ऋग्, यजुः और साम इन तीन ही वेदों का उल्लेख है। परन्तु साथ में पड़े **छंदांसि** शब्द को देख कर इस भ्रम का निवारण हो जाना चाहिये। **छंदांसि** पद यहां **अथर्ववेद** का ही अपर नाम है, इस विषय का विवेचन करते हैं—

छन्दांसीत्यथर्ववेदः ॥४६॥

छन्दांसि यह पद अथर्ववेद का वाचक है।

छन्द शब्द से प्रायः गायत्र्यादि छन्दों का ग्रहण होता है। परन्तु उद्धृत **प्रमाणों** में जहां भी **छन्दांसि** अथवा छन्द पद आया है वहाँ उससे गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्द अभिप्रेत नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो यहाँ इस पद का प्रयोग ही व्यर्थ था, क्योंकि ऋग्वेदादि तो हैं ही छन्दोमय। फिर यजुः और साम की उत्पत्ति के बीच छन्द की उत्पत्ति का वर्णन अस्थान में होने से सर्वथा असंगत है। **बुद्धिपूर्वा वाक्य-कृतिर्वेदे**—महर्षि कणाद के इस वचन को देखते हुए ऐसा होना संभव नहीं। यदि **छन्दांसि** पद ऋचः...सामानि—यजुः का विशेषण होता तो इसके साथ पृथक्तः **तस्मात् जज्ञिरे** सर्वनाम और क्रियापद का प्रयोग न होता। वास्तव में जिस प्रकार यहाँ ऋचः, सामानि और यजुः के साथ पृथक् रूप में **तस्मात्** सर्वनाम और **जज्ञिरे** व **अजायत** क्रियापदों का प्रयोग किया गया है, ठीक उसी प्रकार छन्दांसि

के साथ भी तस्मात् सर्वनाम तथा जज्ञिरे क्रियापद का प्रयोग हुआ है। अतः ऋग, यजुः और साम की भांति छन्दांसि की भी पृथक् सत्ता है। तब परिशेषन्याय से छन्दांसि अथर्ववेद का ही वाचक रह जाता है।

ऋग्वेद का पुरुषसूक्त किंचिद् शब्दभेद के साथ अथर्ववेद में भी आया है। यदि छन्दांसि का अर्थ अथर्ववेद न होता तो वेदों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में चौथे अर्थात् अथर्ववेद को स्वयं अथर्ववेद में कैसे छोड़ा जा सकता था। अतः सन्दर्भान्तिर्गत छन्दांसि पद से अथर्ववेद का ही ग्रहण युक्तियुक्त है।

गोपथ ब्राह्मण—(१-२९) के अनुसार ऋग्वेद का प्रमुख छन्द गायत्री, यजुर्वेद का त्रिष्टुप और सामवेद का जगती हैं। वहीं पर अथर्ववेद के विषय में कहा है—**अथर्वणां सर्वाणि** छन्दांसि अर्थात् अथर्ववेद में सभी छन्द हैं। संभवतः छन्दों के वैविध्यपूर्ण बाहुल्य के कारण ही अथर्ववेद को छन्दांसि, **छन्दोह** अथवा **छन्दोवेद** के नाम से अभिहित किया गया है। अन्यत्र—अथर्ववेद **१५-७-७८** में **तमृचश्च सामानि च ब्रह्म च** तथा गोपथ ब्राह्मण में **चत्वारो वा इमे ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ब्रह्मवेदः** कह कर अथर्ववेद को ब्रह्मवेद के नाम से पुकारा गया है और इस नाम को सार्थक बनाने के लिये **अथर्ववों ब्रह्मा** कह कर ब्रह्मा के लिये अथर्ववेद का विद्वान् होना अनिवार्य कर दिया गया है।

अथर्ववेद के छन्दांसि के नाम से अभिहित किये जाने का एक अन्य कारण भी हो सकता है। निरुक्त में कहा है—छादनाच्छन्दः अर्थात् जो आच्छादन करता है वह छन्द कहाता है। अथर्ववेद का मुख्य विषय शरीर, राष्ट्र आदि की रक्षार्थ आवश्यक साधनोपायों का विधान करना है। अतः वह छन्द पद का वाच्य हो सकता है। वेदेतर संस्कृत साहित्य में भी छन्दाँसि पद का व्यवहार अथर्ववेद के लिये होता आया है। हरिवंश पुराण के निम्न उद्धरण में छन्दांसि पद का प्रयोग अथर्ववेद के पर्यायवाची विशेषण के रूप में होने से तो स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो जाती है—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च।
चत्वारस्त्वखिला वेदा सरहस्याः सविस्तराः॥

जिन ऋषियों को परमेश्वर से वेद का ज्ञान मिला उनका उल्लेख करते हैं—

तच्चाग्निवाय्वादित्याङ्गिरसामात्मनि प्रेरितम् ॥४७॥

और वह (वेदचतुष्टय) अग्नि, वायु, आदित्य और अँगिरा की आत्मा में प्रेरित हुए।

सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने ब्रह्मवित् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक परम पवित्र आत्माओं में क्रमशः ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद का प्रकाश किया। इस विषय में ऋग्वेद (२०-७१-१) में कहा है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

सृष्टि के आदि में शब्दों के नाम रूप को ग्रहण करते हुए ऋषियों के हृदय में बृहस्पति ने अपनी श्रेष्ठ वाणी को प्रेरित किया। हृदयगत प्रेरणा के लिये किसी के मुख से सुनना आवश्यक नहीं होता । **स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते**—हृदय में हुई प्रेरणा को शुद्धान्तःकरण वाला व्यक्ति अनायास ही ग्रहण कर लेता है । अग्नि आदि ऋषि जिनका परमेश्वर ने अपने ज्ञान के संक्रमण के लिये वरण किया वे मोक्ष की अवधि में दीर्घकाल तक उसी में लीन रह कर लौटने वाले विशिष्ट जीव थे । अतएव वे इस महान् कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त थे ।

कोई कोई महानुभाव कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में केवल एक विद्वान् को सम्पूर्ण वेद का ज्ञान मिला था जिसका नाम अग्नि था। उनके कथन का आधार ऋग्वेद (५-४४-१५) का यह मन्त्र है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकः ॥

इस मन्त्र के अनुसार ऋचायें, सामगान आदि एक अग्नि को ही प्राप्त होते हैं जो जागता रहता है। परन्तु यहाँ अग्नि किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है । अग्नि का एक अर्थ विद्वान् भी है। इस अर्थ के साथ वेदमन्त्र की संगति बैठ कर उसका भाव स्पष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् जागता रहता है वही सम्पूर्ण वेद के तत्त्व को यथावत् जानता है ॥४७॥

कोई कोई अग्नि आदि से भौतिक अग्नि आदि का ग्रहण करके जड़ पदार्थों में अलौकिक देवत्व का आरोप न करने लगें, इसीलिये इस भ्रम के निवारणार्थ कहते हैं—

न ते भौतिकाग्न्यादयः जडे ज्ञानकार्यासम्भवात् ॥४८॥

वे अग्नि आदि भौतिक पदार्थ नहीं है, जड़ में ज्ञान की क्रिया न होने से ।

यदि उन्हें भौतिक अग्नि आदि के समान जड़ पदार्थ माना जाये तो यह सर्वथा असंगत होगा, क्योंकि जड़ पदार्थ ज्ञान के ग्रहण करने, उनका व्याख्यान तथा प्रवचन करने में नितान्त असमर्थ हैं । काव्यशास्त्र का सिद्धान्त है—**मुख्यार्थबाधे-लक्षणा**—जहाँ मुख्य, प्रसिद्ध अर्थात् अभिधार्थ संभव नहीं होता वहाँ लक्षणा से काम लिया जाता है । जो अर्थ जिस पद या शब्द का वाच्य नहीं है उस अर्थ के लिये भी विशेष कारण से उसका प्रयोग होता है । वेद के शब्द धातुज अथवा यौगिक हैं । तदनुसार ही उनका अर्थ करना चाहिये । यहाँ अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा क्या हैं—इसे स्पष्ट करते हैं—

जीवविशेषास्ते वेदोत्पादितत्वात् ॥४६॥

वे जीवविशेष थे, वेदोत्पत्ति का माध्यम होने से।

ईश्वरीय प्रेरणा से उसके ज्ञान को प्राप्त करने वाले मानवदेहधारी ऋषि थे। इस विषय में सायणाचार्य ने भी अपने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में लिखा है—**जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्**। अर्थात् सायणाचार्य ने भी अग्नि, वायु आदि को जीवविशेष माना है ॥४६॥

वेदों में निहित ईश्वरीय ज्ञान की पूर्णता में सन्देह करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में एक शंका प्रस्तुत करते हैं—

न हि कृत्स्नं वेदज्ञानं ब्रह्मज्ञानस्यानन्तत्वात् ॥५०॥

निश्चय ही वेद का ज्ञान पूर्ण नहीं है, ब्रह्मज्ञान के अनन्त होने से।

वेद में निहित ज्ञान के सम्बन्ध में कहा जाता है—**सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः** अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वेद सर्वज्ञान का स्रोत है। दूसरे शब्दों में वेद में समस्त विद्यायें या विज्ञान हैं। इसीलिये वेद को **सर्वज्ञानमय** कहा गया है। परन्तु यह मान्यता अक्षरशः युक्ति-संगत नहीं है। किसी भी विशेषज्ञ आचार्य द्वारा जब किसी विषय का प्रतिपादन करने के लिये किसी ग्रन्थ की रचना की जाती है तो रचना यथासंभव सर्वांगपूर्ण होने पर भी रचयिता का ज्ञान अवश्य ही उसकी अपेक्षा अधिक रहता है। पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का अद्भुत ग्रन्थ है। तब भी यह नहीं माना जा सकता कि उसमें पाणिनि मुनि का ईश्वर का सम्पूर्ण ज्ञान आ गया है। फिर प्रभु का ज्ञान तो उसी के समान अनन्त है। अनन्त प्रभु का अनन्त ज्ञान चार पुस्तकों में कैसे समा सकता है? **अनन्ता वै वेदाः**—ज्ञान अनन्त है। अतः यही समझना चाहिये कि सृष्टि के आदि में जो ज्ञान मिला वह ईश्वर का सम्पूर्ण ज्ञान न होकर उसका एक अंशमात्र है। चार संहिताओं को जो वेद कहा जाता है उसका यह अभिप्राय नहीं कि वेद इतना ही है। इसमें **अनन्ता वै वेदाः** यह प्रमाण तो है ही, विचार करने पर यही समझ में आता है कि ज्ञान को किसी सीमा में अर्थात् चार पुस्तकों में नहीं बांधा जा सकता ॥५०॥

अब इस शंका का समाधान करते हैं—

कात्स्न्यं जीवापेक्षया ॥५१॥

जीव की अपेक्षा से पूर्णता है।

यह ठीक है कि ऋग्वेदादि शास्त्र जिनका ऋषियों ने व्याख्यान रूप अनेक शाखाओं में विस्तार किया वे सर्वज्ञ ब्रह्म के अनन्त ज्ञान का एक अंश ही है। वेद को **सर्वज्ञानमय** कहने का अभिप्राय यही है कि वेद में निर्दिष्ट ज्ञान जीव की अपेक्षा से सम्पूर्ण है। ज्ञानी पुरुषों के संसर्ग से अज्ञानी आत्मा का ज्ञान बढ़ता है। परमात्मा

द्वारा प्रदत्त वेदरूपी ज्ञान से तथा उसके साक्षात्कार से जीव के ज्ञान का विकास होता है। परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण वह परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता। परमेश्वर के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने का न उसमें सामर्थ्य है और न उसे उसकी आवश्यकता है। तथापि अपनी जीवनचर्या के लिये जीव को जितने ज्ञान की आवश्यकता है उसकी अपेक्षा से वेद का ज्ञान पूर्ण है। इस विषय का स्पष्टीकरण यजुर्वेद के इस मन्त्र में किया है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो वितस्थिरे ।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥

३८-२६।

इस मन्त्र में आया हुआ तावन्तम् पद पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में उनका ज्ञान आत्मा को होता है। भूलोक और द्युलोक में पदार्थों से उसका सम्बन्ध है। अतः उतना ही ज्ञान उसके लिये अपेक्षित था और वह उसे वेद के रूप में दे दिया गया। अनन्ता वै वेदाः में अनन्त शब्द का प्रयोग औपचारिक भी हो सकता है—अनन्तसुखिवत्। वेद शब्द से यहां समस्त वैदिक साहित्य भी अभिप्रेत हो सकता है, क्योंकि इस वचन के कथन के समय तक वेद के व्याख्यान—शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, उपांग, उपवेद, श्रौत—गृह्यसूत्र आदि के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका था और यह प्रवाह अनवरत चालू था। परन्तु वेद संख्या में चार नहीं, अनन्त हैं, अनन्ता वै वेदाः का यह अर्थ कभी नहीं किया गया ॥५१॥

——o——

तृतीय अध्याय

वेद नित्यत्व

अनाद्यनन्तत्वान्नित्यत्वम् ॥१॥

अनादि और अनन्त पदार्थ नित्य होता है।

जो उत्पन्न नहीं होता, वह कभी नष्ट भी नहीं होता। ऐसा पदार्थ नित्य कहाता है। इसके विपरीत—

उत्पत्तिविनाशादनित्यत्वम् ॥२॥

उत्पत्ति और विनाश वाला पदार्थ अनित्य होता है।

उत्पन्न पदार्थ में ६ प्रकार के क्रिया—विकार होते हैं, अर्थात् वह जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश—इन ६ अवस्थाओं में से गुजरता है। वह—

१. **जायते**=उत्पन्न होता है।

२. **अस्ति**=है।

३. **विपरिणमते**=बदलता है।

४. **वर्धते**=बढ़ता है।

५. **अपक्षीयते**=घटता है।

६. **विनश्यति**=नष्ट होता है।

इन ६ क्रिया-विकारों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक क्रिया-विकार हैं। परन्तु वे इन्हीं के अवान्तर भेद होने से उनका अन्तर्भाव इन्हीं छहों में हो जाता है। इन क्रिया-विकारों से युक्त पदार्थ अनित्य होता है ॥२॥

वेद के नित्यानित्व के विषय में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

वेदानित्यत्वमुत्पत्त्युक्तत्वात् ॥३॥

वेदों की उत्पत्ति का कथन होने से वेद अनित्य हैं।

जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अवश्यंभावी है। उत्पन्न होने से ध्वनिरूप वेद अनित्य हैं। **यजुस्तस्मादजायत** (यजु० ३१-७), **त्रयो वेदा अजायन्त** (श० ब्रा० ११-५-८-३) **महतो भूतस्य निःश्वसितम्** (बृ० उप० २-२-१०) इत्यादि

वचनों से वेदों की उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है । उत्पन्न हुए है तो उनका विनाश भी अवश्य होगा । ऐसी अवस्था में उन्हें नित्य कैसे माना जा सकता है ? अनित्य होने पर उनमें वृद्धि, क्षय, विपर्यय आदि दोष भी होंगे ॥३॥

अब उत्तर पक्ष के रूप में इसका समाधान करते है—

न ब्रह्मशक्त्यभिव्यक्तेः ॥४॥

नहीं (अनित्यत्व), ब्रह्मशक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण ।

कृतबुद्धि बनाई गई—ऐसी धारणा होने से लोक में बनाई गई वस्तुओं को देखकर वेदों की उत्पत्ति का भ्रम हो जाता है । परमेश्वर सृष्टि की रचना करता है । परन्तु इस प्रकार नहीं जैसे कुम्हार घड़े की । संसार की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय में उसकी स्वाभाविक शक्ति प्रेरक है । जिस प्रकार प्राकृत जगत् की रचना के लिये वह उसके उपादान कारण प्रकृति में ईक्षण द्वारा प्रेरणा देता है उसी प्रकार वेदों के प्रादुर्भाव के लिये भी सृष्टि के आदि में श्रेष्ठतम ऋषियों की आत्मा में ज्ञान की प्रेरणा देता है । वास्तव में परमेश्वर प्रचलित अर्थों में कर्त्ता नहीं, प्रेरक है । उसी रूप में वेद परमात्मा की प्रेरणा—स्वाभाविक शक्ति से अनायास ही **अभिव्यक्त** होता है । आदि ऋषियों के मुख से जो शब्दराशि उच्चरित होती है वह उनकी इच्छा से नहीं, प्रत्युत ईश्वर की प्रेरणा से होती है । इसलिये ऋषियों की वाणी से निःसृत होने के कारण ध्वनिरूप में अनित्य होने पर भी मूलरूप में ईश्वरीय होने से नित्य है । वस्तुतः शब्दरूप वेद की नित्यता आनुपूर्वी पर आधारित है, ध्वनि पर नहीं । जो उत्पन्न होता है वह पहले नहीं होता । परन्तु जिसकी अभिव्यक्ति होती है उसकी सत्ता पहले से होती है । मात्र उसका प्राकट्य होता है । उपर्युक्त वचनों में **अजायत** आदि शब्दों से यही अर्थ अभिप्रेत है । जीव के अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने तथा भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त होने से अस्मदादि पुरुष सर्वज्ञकल्प समस्त विद्याओं के आदिमूल वेद की रचना में सर्वथा असमर्थ हैं । वह आदि ऋषियों की पवित्र आत्माओं की नई प्रेरणा का ही फल है । गुण-गुणी नित्य सम्बन्ध से वेदज्ञान परमेश्वर में नित्य है । उसकी प्रेरणा से संसार में अभिव्यक्त होने के कारण वह नित्य है ॥४॥

वेद शब्दरूप है । अतः वेद का नित्यत्व शब्द के नित्यत्व पर निर्भर है । ऐसी अवस्था में शब्द का नित्यत्व विवेच्य है । इस सन्दर्भ में पहले शब्द का लक्षण करते हैं—

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥५॥

कान से सुनकर जिसका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाना जाता है, वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करके जिसकी अभिव्यक्ति होती है और जिसका आश्रयस्थान

आकाश है—उसे शब्द कहते हैं। जब शब्द की उत्पत्ति कण्ठ-तालु आदि शरीरावयवों के माध्यम से होती है तो स्वभावतः शब्द उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। जब उत्पत्ति और विनाश के कारण शब्द ही अनित्य है तो शब्द रूप वेद कैसे नित्य होगा? इस शंका को सूत्रित कर पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

शब्दोऽप्युपरतोऽनागतश्च वाक्क्रियावत् ॥६॥
शब्द की उत्पत्ति भी होती है और नाश भी, वाणी की क्रिया के समान।

उच्चारण, श्रवण आदि के द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है। उच्चारण श्रवण आदि की क्रिया क्षणभंगुर है। इस लिए उच्चारण किये जाने से पूर्व शब्द सुना नहीं जाता और उच्चारण होते ही नष्ट हो जाता है।

तब क्षणभंगुर शब्द पर आधारित वेद कैसे नित्य हो सकता है? इस शंका का समाधान करते हैं—

शब्दस्त्वाकाशवन्नित्यः ॥७॥
शब्द तो आकाश की भांति नित्य है।

गुणी-गुण का नित्य सम्बन्ध है। शब्द आकाश का गुण है। जब गुणी आकाश नित्य है तो उसका गुण शब्द कैसे अनित्य हो सकता है? मीमांसा दर्शन (१-१-१५) में शब्द के आकाश की भांति नित्य तथा व्यापक होने का उपपादन करने के लिये कहा—**आदित्यवद्यौगपद्यम्**। अर्थात् एक शब्द का सूर्य की भांति अनेक देशों में एक ही समय में होना शब्द के व्यापकत्व में प्रमाण है। ऐसा न होता तो दिल्ली या लन्दन से रेडियो द्वारा प्रसारित शब्द संसार भर में एक ही समय में एक जैसे सुनाई न पड़ते? ॥७॥

तब उसकी उत्पत्ति-विनाश का कथन क्यों किया जाता है—इसे स्पष्ट करते हैं—

प्राणवाक्क्रियया तदभिव्यक्तिः ॥८॥
प्राण (वायु), वाक् आदि की क्रिया से उसकी अभिव्यक्ति होती है।

वस्तुतः शब्द को उत्पन्न कहना असंगत है। शब्द उत्पन्न नहीं होता। वर्त्तमान जिन करणों (इन्द्रियों) से हम शब्द का उत्पादन कहते हैं वे उत्पादक नहीं, अभिव्यंजक हैं। उच्चारण से पहले से विद्यमान नित्य शब्द की अभिव्यक्ति मात्र होती है। जब तक प्राण और वाणी की क्रिया नहीं होती तब तक शब्द अव्यक्त रहता है। जब इस क्रिया के द्वारा उच्चारण किया जाता है तभी वह व्यक्त हो जाता है। वर्त्तमान में रेडियो के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। रेडियो खोलते ही जब उसमें से गाना फूट निकलता है तो कोई यह

नहीं कहता कि यहां किसी ने गाना प्रारम्भ कर दिया है। सब जानते हैं कि गाने के शब्द आकाश में (जो हमारे कमरे में भी हैं) पहले ही विद्यमान थे। रेडियो के रूप में उपलब्ध साधनों ने उन्हें यहां व्यक्त कर दिया है। यदि उच्चारण होते ही शब्द नष्ट हो गया होता तो लन्दन से दिल्ली कैसे पहुंच पाता? मीमांसा दर्शन में ही अन्यत्र (१-१-१३) कहा गया है—**सतः परमदर्शनं विषयानागमात्**। अर्थात् व्यक्त न होने के कारण शब्द होते हुए भी दिखाई (सुनाई) नहीं देता। वास्तव में वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और विनाश होता है, शब्द का नहीं। वहीं (मी० द० १-१-१८) एक और सूत्र में कहा है—**यौगपद्यात्**। सब शब्दों में एक ही समय में प्रत्यभिज्ञा होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता। उच्चारण से नित्य शब्द की अभिव्यक्तिमात्र होने से ही भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित वर्णों की प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि उच्चारण से शब्द वास्तव में उत्पन्न होता तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित वर्ण भिन्न-भिन्न होते और उनकी प्रत्यभिज्ञा संभव न होती। इतना ही नहीं, उच्चारण काल में ही वर्ण उत्पन्न होते और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते। फिर वर्ण-समुदाय-पद और पद-समुदाय वाक्य आदि कुछ भी न बन पाते। तब, पदवाक्यों से अर्थप्रतीति होकर जो व्यवहार चलता है, वह कैसे चलता? इसीलिये शब्द को नित्य मानना ही होगा ॥८॥

शब्द के नित्यत्व में अन्य हेतु देते है—

नित्यत्वमुच्चारणस्य परार्थत्वात् ॥९॥

शब्द नित्य है, दूसरे (श्रोता) को अर्थ की प्रतीति कराने के प्रयोजन से उच्चारण किये जाने से।

श्रोता को ज्ञान कराने के उद्देश्य से शब्द का उच्चारण किया जाता है। शब्द को अनित्य मानने पर उच्चारण होते ही शब्द नष्ट हो जायेगा। जब शब्द ही न रहा तो वक्ता से श्रोता तक कैसे पहुँचेगा? फिर उस शब्द से अर्थ की प्रतीति होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार शब्द का प्रयोजन न रहने पर उसका उच्चारण करना ही व्यर्थ हो जायेगा ॥९॥

इसी विषय में एक और हेतु देते हैं—

व्याकरणप्रामाण्यात् ॥१०॥

व्याकरण के प्रमाण से (भी शब्द नित्य है)।

शब्दप्रधानं व्याकरणम्—शब्द विद्या का मुख्य मूल व्याकरणशास्त्र है और व्याकरण में महामति पाणिनि और महाभाष्यकार पतंजलि प्रमाण हैं। उनके मत में **नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति**—अर्थात् शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् अविनाशी हैं। न वे कभी विचलते हैं

और न कभी उनका अभाव या आगम होता है । जब सभी शब्द नित्य हैं तो वेदों के शब्दों का क्या कहना ? ऋषियों की आत्मा में ईश्वर ने वेदों को उत्पन्न न करके केवल प्रकट किया। इसी से वे **ब्रह्म निःश्वसित** कहाये ॥१०॥

अब वेद के नित्य होने में कतिपय अन्य हेतु देते हैं—

तद्वचनादाम्नायस्य नित्यत्वम् ॥११॥

उस (ईश्वर) का वचन होने से वेद नित्य हैं।

जिसका समस्त सामर्थ्य नित्य है उसका ज्ञान तथा क्रिया सभी नित्य हैं। जीवात्मा के भोग तथा अपवर्ग के निमित्त जगत् की रचना हुई है। चेतन तत्त्व जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता तथा प्राकृतिक जगत् उसका भोग्य है। इस प्रकार जीवात्मा और प्रकृति दोनों विद्यमान हैं और इन दोनों का संचालन सर्वोपरि शासक ब्रह्म की अध्यक्षता में ही रहा है। जब अधिष्ठाता ब्रह्म, भोक्ता जीवात्मा और भोग्य प्रकृति तीनों नित्य हैं तो सृष्टि के संचालन तथा जीवात्माओं को हिताहित मार्ग में प्रवृत्त एवं निवृत्त करने के लिये निर्मित ईश्वरीय विधान का भी नित्य होना आवश्यक है। विधाता द्वारा उस विधान का सृष्टि के आदि में वेद के रूप में विमोचन कर दिया जाता है। इसलिये उस वेद रूप विधान को नित्य मानना सर्वथा उपयुक्त है। इसी को लक्ष्य कर महाभारत (शा० प० २३२-२४) में कहा गया है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

सृष्टि के आदि में परमात्मा ने नित्य एवं दिव्य वेदवाणी की रचना की जिससे संसार की सारी प्रवृत्तियां चल रही हैं। ऐसी अवस्था में जब तक यह सृष्टि रहेगी तब तक उसका विधान वेद भी अनिवार्यतः बना रहेगा ॥११॥

नावस्तुनो सिद्धिरिति न्यायेनापि ॥१२॥

अवस्तु की सिद्धि नहीं होती—इस न्याय से भी वेद नित्य हैं।

अभाव से भाव की उत्पत्ति नितान्त असम्भव है। **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** —गीता (२-१७) के इस वचन में निर्दिष्ट सिद्धान्त एक सार्वभौम एवं सार्वकालिक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। जो सत् है उसी से आगे प्रवृत्ति संभव है। जो वस्तु है ही नहीं है उससे किसी अन्य वस्तु का विकास कदापि नहीं हो सकता। यदि ईश्वरीय ज्ञान पहले से न होता तो वर्त्तमान में उसका आविर्भाव कहां होता ? और जब उसका अस्तित्व वर्त्तमान में प्रत्यक्ष है तो उसका विनाश भी कभी नहीं होगा। इस प्रकार वेद की न उत्पत्ति होती है और न विनाश। मात्र अभिव्यक्ति और कारण (ब्रह्म) में लय होता है। ईश्वर के ज्ञान में वह नित्य रहता है। यदि मूल शेष न हो तो उसमें अंकुर कहा से फूटें और फिर

शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि कहां से आयें ? यदि ईश्वर में स्वभावतः ज्ञान न होता (स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च) तो सृष्टि के आदि में उपदेश कैसे करता ? और यदि वह उपदेश न करता तो मनुष्य को यथार्थ ज्ञान कैसे होता ? निर्मूल की उत्पत्ति वा वृद्धि असंभव है। संसार में जितनी भी विद्या है वह परमेश्वर से प्राप्त नित्य वेदविद्या के मूलरूप का ही विस्तार है ॥१२॥

श्रुत्युक्तत्वात् ॥१३॥
श्रुति का वचन होने से।

वेद के नित्य होने में उसकी अन्तः साक्षी भी उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद (८-७५-६) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥

इस मन्त्र में **वाचा निरुपनित्यया** इन शब्दों से वेदवाणी को नित्य कहा गया है। सायणाचार्य ने भी इसका ऐसा ही अर्थ किया है—**नित्यया उत्पत्तिरहितया वाचा मन्त्ररूपया सुष्टुतिं नूनमिदानीं चोदस्व** स्तुहि। अर्थात् हे महर्षे ! उत्पत्ति-रहित मन्त्र रूप वेदवाणी के द्वारा स्तुति किया कर ॥१३॥

वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् ॥१४॥
वृद्धि, क्षय और विपर्यय न होने से।

ईश्वर के एकरस होने से उसकी विद्या भी अखण्ड एवं एकरस बनी रहती है। उसमें कभी एक अक्षर का भी विपर्यय नहीं होता। चारों वेदों की संहिताओं में शब्द, पद और अक्षरों का जो क्रम वर्त्तमान में में वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा। पिछले लगभग दो अरब वर्षों से आज तक किसी भी प्रकार का परि-वर्त्तन वेदों में नहीं हुआ। इस प्रकार वृद्धि, क्षय और विपर्यय न होने से भी वेदों का नित्यत्व सिद्ध है ॥१४॥

पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥१५॥
पुरुष की विद्या अनित्य होने से वेद ही सम्पूर्ण कर्मों के बोधक हैं।

सृष्टि की रचना आदि संयोग-वियोग से होती है। संयोग-वियोग का कर्त्ता आदि कारण परमेश्वर संयोग-वियोग से पृथक् है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने से सर्वत्र व्यापक है। जो जीव स्वयं संयोग-वियोग वाला है उसकी विद्या नित्य नहीं हो सकती। मनुष्य अल्पज्ञ है। अतः उसका ज्ञान सन्दिग्ध और अपूर्ण होने से परि-वर्त्तनशील होने के कारण नित्य नहीं हो सकता। ऐसे अधूरे ज्ञान से सत्कर्मों की सिद्धि नहीं हो सकती। वह तीनों काल में एकरस रहने वाले नित्य ज्ञान से ही संभव है और वह नित्य ज्ञान परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेद अथवा मन्त्र ही हैं। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने जितने पदार्थ उत्पन्न किये आदि ज्ञान वेद में उन सबका तत्संबन्धी ज्ञान भी साथ में ही दे दिया। इस प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होने से

वेद पूर्ण, नित्य और सब विद्याओं के भण्डार हैं। इसी लिये भगवान् मनु ने कहा है— **भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति** (मनु० १२-९६)। इतना ही नहीं, पृथिवी से सूर्य तक व्याप्त परमाणुओं का गमन, परिभ्रमण, सप्त लोकों की गति-विधि आदि शतशः कर्म वेदों में ही मिलते हैं। इतना विस्तृत ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। इसके बिना संसार में व्यवस्था चलना संभव न होता। इसी बात को गीता (३-१५) में इन शब्दों में कहा हैं—**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि** अर्थात् धर्म-कर्म की उत्पत्ति और उनका ज्ञान ब्रह्म अर्थात् वेद से होता है ॥१५॥

वेद के नित्यत्व की स्थापना के अनन्तर शब्द और अर्थ विषयक विवेचन प्रारम्भ करते हैं। सबसे पूर्व शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध का कथन करते हैं—

वाच्यवाचकभावः शब्दार्थयोः ॥१६॥

शब्द और अर्थ का परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है।

शब्द का उच्चारण अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है। शब्द वाचक होता है और अर्थ उसका वाच्य। जैसे—**अश्व** शब्द एक पशु विशेष के अर्थ का वाचक है क्योंकि उससे अश्व नाम वाले पशु विशेष का बोध होता है। और अश्व नामक पशुविशेष अश्व शब्द का वाच्य है। शब्द और अर्थ का यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध कहाता है। प्रत्येक शब्द में मुख्य रूप से किसी एक और कभी अनेक अर्थों का बोधन कराने की शक्ति निहित होती है। उसी का नाम वाचकता शक्ति है ॥१६॥

शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध नित्य होता है—एतदर्थ कहते हैं—

नित्यः शब्दार्थयोर्भावः ॥१७॥

शब्द और अर्थ में नित्य भाव=सम्बन्ध होता है।

शब्द और अर्थ का आदि सृष्टि में जो सम्बन्ध था वह वही था जो प्रलय से पूर्व था, तथा जब जब सृष्टि हुई, तब था और, जब जब सृष्टि होगी, रहेगा। **गौ** और **अश्व** का एक अर्थ क्रमशः गाय और घोड़ा था, है, और रहेगा। संस्कृत में **गम्** का अर्थ जाना और **पिब्** का पीना था, है, और रहेगा। मनुष्यों के मुख से जिन शब्दों का उच्चारण होता है वे भी जैसे पहले थे, वैसे ही आज हैं और आगे भी रहेंगे। प्रकृति में गौ की रचना मानवी कृति नहीं है, अपौरुषेय रचना है। अतः **गौ** शब्द और उसके प्रतीक से जो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं दोनों अपौरुषेय होने से नित्य हैं। महान् शब्दशिल्पी कविकुलगुरु कालिदास ने शिव-पार्वती का अभेद अथवा तादात्म्य बताने के लिये **वागर्थाविव सम्पृक्तौ** को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है।

कोई भी ज्ञान शब्द को छोड़ कर नहीं रहता। प्रत्येक ज्ञान के साथ शब्द गुंथे रहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ (हरिः)

अतः ऋषियों के अन्तःकरण में अतीन्द्रिय अर्थों का जो ज्ञान हुआ उसके साथ शब्द भी रहे होंगे। ऋषियों के ज्ञान में जो शब्द आये थे वही वेद थे और उन्हीं शब्दों को ऋषियों ने उसी रूप में **अवरेभ्यः** प्रकाशित कर दिया॥१७॥

जब शब्द के बिना अर्थ और अर्थ के बिना शब्द नहीं रह सकता तो जैसे ईश्वर से ज्ञान मिला वैसे ही भाषा भी उसी से मिलनी चाहिये। इस सिद्धान्त की स्थापना के लिये अगला सूत्र कहा गया—

वागर्थयोरविनाभावाद्वाचोऽपौरुषेयत्वम् ॥१८॥

वाक् और अर्थ—भाषा और ज्ञान में अविनाभाव सम्बन्ध होने से भाषा अपौरुषेय है।

मनुष्यों में भाषा के बिना ज्ञान नहीं रह सकता और न ज्ञान के बिना भाषा रह सकती है। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है—एक के बिना दूसरे का रहना असंभव है। ऐसी अवस्था में यही मानना होगा कि सृष्टि के आदि में ज्ञान और भाषा दोनों को साथ लेकर ही संसार में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसी के साथ यह भी मानना होगा कि आदि भाषा भी परमात्मा की प्रेरणा से ही मिली, जैसे आदि ज्ञान। दूसरे शब्दों में आदि ज्ञान और आदि भाषा दोनों समानरूप से परमात्मा की देन हैं।

भाषा अपने आप मुंह से फूट पड़े या बाह्य ध्वनियों के अनुकरण से भाषा बन जाये, यह दोनों प्रक्रियायें असंभव है। मनुष्य वही भाषा बोलता है जो उसके कानों में पड़ती है। एक शिशु भी वही भाषा बोलता है जो वह अपने माता-पिता, पारिवारिक जनों या पड़ोसियों से सुनता है। यही कारण है कि प्रत्येक प्रान्त अथवा ज़िले की भाषा में भिन्नता पाई जाती है। जब कोई भी मनुष्य बिना सीखी भाषा नहीं बोल सकता तो यह कहना कि वह स्वयं भाषा बना लेगा, किसी प्रकार माननीय नहीं हो सकता। मनुष्य के मुख से जो ध्वनि नादरूप में होती हुई वर्णात्मक ध्वनि के रूप में हमारे कानों तक पहुँचती है, वैसी ध्वनि मनुष्य के अतिरिक्त और किसी प्राणी के मुख से नहीं निकलती। पशु-पक्षियों की ध्वनियां वर्णात्मक होती ही नहीं। तब यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य अपने वर्णों को पशु-पक्षियों की ध्वनि के अनुकरण पर बना ले? अतः इसी सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ता है कि आदि ज्ञान की भाँति भाषा भी परमात्मा की ही देन है और सृष्टि के प्रारम्भ में जैसे ज्ञान एक था, वैसे ही भाषा भी एक थी ॥१८॥

शब्दार्थ—संबन्ध में शब्द की स्वाभाविक शक्ति का कथन करते हैं—

स्वाभाविकमर्थाभिधानम् ।।१६।।
शब्द का अपने अर्थ को कहना स्वाभाविक है ।

जिस शब्द का जो अर्थ है वह उसकी स्वाभाविक शक्ति पर निर्भर है। यह स्वाभाविकता ही शब्द अर्थ संबन्ध की नित्यता है जो ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में वेदज्ञान में अन्तर्निहित होती हुई ऋषियों के हृदय में प्रकाशित होकर मनुष्यों को प्राप्त हुई और संसार में व्यवहार में आई। प्रस्तुत सन्दर्भ में ऋग्वेद (१०.७१.३) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

यहाँ **ऋषिषु प्रविष्टाम्** से स्पष्ट है कि वेद ऋषियों में प्रविष्ट हुआ ज्ञान वा वाणी है, उनकी अपनी बनाई हुई नहीं है। इसी प्रकार **अन्वविन्दन्** से स्पष्ट है कि वेद का ज्ञान पहले ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट होता है और तब उनसे दूसरे मनुष्य प्राप्त करते हैं।

वेद के सब शब्द यौगिक हैं। प्रकृति-प्रत्यय के योग से अपना अर्थ बताते हैं। धातु-प्रातिपदिक-प्रत्यय-निपात— इनके अर्थों की इयत्ता को बांधा नहीं जा सकता। मीमांसा दर्शन (१-५) में कहा है—**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** अर्थात् वेदवाक्यस्थ प्रत्येक पद अपने अर्थ से स्वाभाविक सम्बन्ध रखता है। इस सूत्र के शाबर भाष्य में लिखा है—**औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः।** सूत्रान्तर्गत **औत्पत्तिक** शब्द का अर्थ नित्य है। उत्पत्ति शब्द से लक्षणा द्वारा भाव कहा जाता है। शब्दार्थ संबन्ध नित्य है। ऐसा नहीं कि शब्द और अर्थ का संबंध उनकी उत्पत्ति के पश्चात् जोड़ा जाता है।

इस प्रकार वेद शब्दों की अर्थ बोधन शक्ति स्वाभाविक है। आदि सर्ग में आदि ऋषियों ने भगवान् की प्रेरणा और अपनी प्रतिभा से शब्दार्थ सम्बन्ध का बोध हो जाने पर अर्थात् यह जानने पर कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, उसी रूप में व्यवस्था के साथ उसका उपदेश किया। जिस प्रकार उन्हें शब्दोच्चारण की प्रेरणा प्राप्त हुई उसी प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध की भी। तदनुसार ही उन्होंने शब्दार्थ का उपदेश करने की परम्परा चालू की।

नैयायिक शब्दार्थ सम्बन्ध को सांकेतिक मानते हैं। परन्तु वे ईश्वरेच्छा को संकेत मानते हैं। ईश्वरेच्छा द्वारा सांकेतित होने से वह स्वतः नित्य हो गया, क्योंकि ईश्वरेच्छा में वृद्धि-क्षय-विपर्यय संभव नहीं। योगव्यासभाष्य (१.२७) के अनुसार भी **सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थम-भिनयति**—ज्ञान की नित्यता से शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होता है। संकेत भी जो किया जाता है, वह ईश्वर द्वारा दिये नित्य अर्थ का ही द्योतन करता है। वाक्य-पदीय (१.२३) में लिखा है—**नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः**—

अर्थात् महर्षियों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है ॥१६॥

अब सांकेतिक अर्थ के विषय में विचार प्रस्तुत करते हैं—

सांकेतिकमभिधानमर्थविशेषे ॥२०॥

शब्द का अर्थ विशेष में प्रयोग सांकेतिक है।

जो शब्द-अर्थ मनुष्य समाज परस्पर व्यवहार के निमित्त कल्पित वा सांकेतिक रूप में निश्चय करता है, वह अवश्य ही अनित्य होता है। यह ठीक है कि लोक में भी **अश्व** आदि विशेष शब्द से घोड़े आदि जैसी विशेष वस्तु का ही बोध होता है, कपड़े आदि का नहीं। इससे शब्द और अर्थ का परस्पर बोध होता है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे शब्द-अर्थ की व्यवस्था लोक में भी देखी जाती है। परन्तु लौकिक शब्दों के अर्थ यथाकाल लोककर्त्ता पुरुषों तथा भिन्न-भिन्न भाषाभाषी जनता की इच्छा व व्यवहार के अनुसार निर्धारित होते रहते हैं। जहां वेद में शब्दार्थ स्वाभाविक है जो ऋषियों द्वारा जाना जाता है, वहां लोक में वह आभिधानिक आचार्यों द्वारा संकेत किया जाता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का वाचक वा द्योतक है, ऐसे संकेत अपनी-अपनी भाषा के लिये निर्धारित रहते हैं। उसी के अनुसार शब्द के उच्चारण से अर्थ बोध होता है।

संस्कृत का शब्द **अनर्गल प्रायः** सर्वत्र **बेहूदा बकवास** का द्योतक है। परन्तु कन्नड़ में वह **धाराप्रवाह** भाषण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पंजाब में **काका** बच्चा तो पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार में वह **चाचा** बन जाता है। उत्तर भारत में दूध व चावल से मिल कर खीर बनती है तो मुलतानी में मात्र दूध को खीर कहते हैं। बाज़ार में **ग्राम** का प्रयोग नाप तोल के लिये होता है तो सामान्य व्यवहार में वह गाँव का वाचक है। लौकिक संस्कृत में दासीपुत्र (षष्ठी तत्पुरुष होने से) तथा **दास्याः पुत्रः** दोनों का शब्दार्थ **दासी का पुत्र** है। परन्तु जहां **दासीपुत्रः** दासी का पुत्र ही है वहाँ **दास्याः पुत्रः** गालीरूप है। **राम नाम सत्य है** इस पद समूह में कहीं कोई बुरी बात नहीं कही गई है। परन्तु इस वाक्य का विनियोग अर्थी के साथ जाने वालों के बोलते चलने से यह अशुभ सूचक बन कर रह गया है। जो व्यक्ति उस अर्थ विशेष या संकेत को जानता है, शब्द सुनने पर उसी को उसका बोध होता है। जो किसी भाषा के निर्धारित संकेत को नहीं जानते उस भाषा के शब्दों को सुन कर भी उन्हें अर्थबोध नहीं हो पाता।

बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले शब्दों और उनके अर्थों को साधारण जनता अपने बड़ों द्वारा प्रयुक्त किये जाने से सीखती है। यह परम्परा बराबर चलती रहती है। अनेक बार शब्दों के संकेत बदल भी जाते हैं। किसी समय **उस्ताद** शब्द **गुरु** के लिये प्रयुक्त होता था। कालान्तर में उसका अर्थ **चालाक** हो गया।

और आदरार्थ प्रयुक्त होने वाले **जी** के साथ लगते ही उस्तादजी वेश्याओं के गुरु के लिये परिभाषित हो गया। दिसम्बर १६१५ तक अंग्रेज़ी का शब्द टैंक (Tank) का अर्थ केवल पानी का तालाब था। अनन्तर उसका एक अर्थ युद्ध में काम आने वाली शस्त्रास्त्र से युक्त विशेष प्रकार की मोटर गाड़ी भी हो गया। ये तीनों अर्थ-परिवर्त्तन, अर्थसंकोच तथा अर्थविस्तार के उदाहरण हैं। कभी कभी भाषाओं का रूप इतना बदल जाता है कि उसी परम्परा में रहने वाली जनता भी अपनी ही भाषा को पूर्णतया नहीं समझ पाती। तब उसे कोशों तथा व्याकरण ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है ॥२०॥

जैसे बिना बनाये घड़ा नहीं बनता वैसे ही बिना बनाये शब्द भी नहीं बन सकता। वेद शब्द रूप हैं। अतः शब्दरूप वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। जो बनता है वह, कार्यरूप होने से, बनने से पहले नहीं होता और बनने के बाद कभी न कभी नष्ट भी अवश्य होता है, इसलिये वेदों को नित्य नहीं माना जा सकता। इस आपत्ति का निराकरण करते है—

शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात् ॥२१॥

शब्द दो प्रकार का होता है—एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें—

परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः नित्याः ॥२२॥

जो शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान में है वे सब नित्य हैं।

सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने जितने भी पदार्थ उत्पन्न किये, आदिज्ञान वेद में उन सबके नाम व तत्संबन्धी ज्ञान (जिसमें शब्दार्थसम्बन्धी ज्ञान भी हैं) साथ में दिया। परमेश्वर के निर्भ्रान्त होने के कारण उन शब्दों तथा उनके अर्थों में वृद्धि, क्षय, विपर्यय आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। देशकाल के प्रभाव से वे असम्पृक्त हैं। परमेश्वर द्वारा सृष्ट सूर्य का कार्य प्रकाश व ताप देना है। वह उसके स्वभाव से प्राप्त है। अतः सर्वत्र सबके लिये समान है। सूर्य किसी वर्ग विशेष को प्रकाश दे और दूसरे को न दे—यह संभव नहीं। परन्तु मनुष्य द्वारा निर्मित दीपक आदि के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। ईश्वर का ज्ञान व क्रिया स्वाभाविक होने से उसकी विद्या त्रिकालाबाधित है। तदनुसार ही उसके द्वारा नियत शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य हैं। वेदाविर्भाव के पश्चात् मनुष्यों ने **सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे** (मनु० १-२२) इस वचन के अनुसार जिन वैदिक शब्दों का प्रयोग उसी रूप में किया वे भी ईश्वरोक्त होने से नित्य हैं ॥२२॥

परन्तु—

अस्मदादीनान्त्वनित्याश्च ॥२३॥

हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होने वाले शब्द कार्य होने से अनित्य हैं।

मनुष्यों द्वारा निर्मित शब्दों से भिन्न भिन्न भाषाओं की उत्पत्ति होती है। इसीलिये विभिन्न देशों में विभिन्न भाषायें प्रचलित हो गई हैं। उनके अपने अपने संकेत हैं। इसी से भाषाओं में वैविध्य है। जो जिसका स्वाभाविक कार्य होता है वह देश, काल या जाति विशेष के कारण बदलता नहीं। मनुष्य द्वारा निर्मित भाषा में शब्द से अर्थ बोध होने में ऐसा नियम नहीं हैं। वहाँ शब्द से अर्थ का बोध सामयिक हैं। वह निर्धारित संकेत के अनुसार होता है। यदि लौकिक भाषाओं में ऐसा न होता—शब्द-अर्थ का अर्थ स्वाभाविक होने से प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का बोधक होता तो मनु यमात्र अपने भावों को व्यक्त करने के लिये सर्वत्र एक ही भाषा का प्रयोग करता जैसा पशुपक्षियों में प्रायः देखा जाता है। परन्तु मानव सृष्टि में तो अर्थसंकोच, अर्थविस्तार, अर्थविपर्यय आदि की प्रक्रिया के कारण एक ही देश में एक ही वर्ग की एक ही भाषा में अन्तर पड़ता जाता है। जो व्यक्ति उन संकेतों को नहीं जानते उन्हें शब्दों को सुन कर भी यथार्थ बोध नहीं हो पाता।

प्रस्तुत सन्दर्भ में गुरुकुल कांगड़ी में बहुत पहले हुई एक मनोरंजक घटना का उल्लेख उपयोगी होगा। दो ब्रह्मचारियों में परस्पर झगड़ा हो गया। एक कहता था कि वह भून कर कुकड़ी खायेगा। दूसरा कहता था कि उसके रहते वैदिक आदर्शों के अनुकूल संचालित गुरूकुल जैसी पवित्र संस्था में ऐसा घृणित कार्य कदापि नहीं होने पायेगा। झगड़ा बहुत बढ़ जाने पर निर्णयार्थ आचार्य जी तक पहुँचा। बात इतनी सी थी कि कुकड़ी भून कर खाने का आग्रह करने वाला विद्यार्थी उत्तर प्रदेश का निवासी था जहां कुकड़ी का अर्थ मक्की का भुट्टा होता है जबकि प्रतिपक्षी पंजाब का रहने वाला था जहाँ मुर्गी को कुकड़ी कहते हैं। यह मानवकृत भाषाओं में शब्दार्थ सम्बन्ध के अनित्य होने का एक उदाहरण मात्र है ॥२३॥

वेद में वाक्यों और पदों का जो क्रम वर्त्तमान में उपलब्ध है वह सदा से वैसा ही है और रहेगा—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अगले सूत्र में किया है—

नियतवाचोयुक्तित्वं नियतानुपूर्व्यत्वञ्च वेदे ॥२४॥

वेदवाणी नित्य है तथा उसकी आनुपूर्वी भी नियत अर्थात् नित्य है।

वेद की आनुपूर्वी (क्रम) नित्य होने का तात्पर्य यह है कि **अग्निमीडे पुरोहितम्** ऐसा ही पाठ रहेगा। इसके स्थान पर न **पुरोहितमग्निमीडे** या **ईडे अग्निं पुरोहितम्** कहा जा सकता है और न **वह्निं स्तौमि नायकम्** कहा जा सकता है, यद्यपि प्रत्येक अवस्था में अर्थ एक ही बना रहता है। इसके विपरीत लौकिक भाषा

में **वनं गच्छ** के स्थान पर **गच्छ वनम्** या **अरण्यं व्रज** और **भोजनमानय** के स्थान पर **आनय भोजनम्** या **खाद्यमाहर** कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

ईश्वरप्रेरित वेद का आज भी वही स्वरूप है जो सृष्टि के आदि में ऋषियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हुआ था। उस पवित्र ज्ञान में ऋषियों के स्वकीय ज्ञान का किसी भी रूप में मिश्रण नहीं हुआ। वह निर्बाध रूप से अक्षुण्ण एवं नित्य है। वेद को नित्य बताने वाले प्रसंग जहां कहीं भी आते हैं उनका वेद की शब्दराशि की आनुपूर्वी की नित्यता में तात्पर्य रहता है। उस आनुपूर्वी के साथ ही वह शब्द-राशि है, अन्यथा नहीं। शब्दरूपी वेद की नित्यता आनुपूर्वी की नित्यता पर आधारित है, ध्वनि पर नहीं।

निरुक्तकार यास्क का वचन है—**नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।** अर्थात् वेद की आनुपूर्वी नित्य है। यहाँ नियत और नित्य पर्यायवाची हैं।

पाणिनि और पतंजलि दोनों आचार्य वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं। पाणिनि मुनि ने जहाँ **छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि** (अ० ४.२.६६) इस सूत्र में तथा अन्य कई सूत्रों में ब्राह्मणों से वेद की भिन्नता का प्रतिपादन किया, वहाँ **कृते ग्रन्थे** (अ० ४.३.११६) तथा **तेन प्रोक्तम्** (अ० ४.३.१०१) इन दोनों सूत्रों को पृथक्-पृथक् बना कर कृति (मूल ग्रन्थ) तथा प्रवचन (व्याख्यान ग्रन्थ) का भेद दर्शाया। महाभाष्यकार पतंजलि ने **स्वरो नियतः आम्नायेऽस्य वामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियतास्य वामशब्दस्य** (महाभा० ५.२.५६) लिख कर स्पष्ट कर दिया कि आम्नाय अर्थात् वेद की आनुपूर्वी तथा स्वर नित्य होते हैं। इतना ही नहीं, या त्वसौ **वर्णानुपूर्वी साऽनित्या** कह कर वर्णानुपूर्वी नित्य न होने से शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा का निषेध भी कर दिया॥२४॥

पूर्वेषामपि गुरु द्वारा प्रेरित उस वेदवाणी की आनुपूर्वी में कोई विपर्यास संभव नहीं हो सकता। उसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से वेद में आस्था रखने वाले आचार्यों तथा अन्य लोगों ने अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार बहुविध प्रयत्न किये हैं। अगले दो सूत्रों में इसी बात का संकेत किया है।

तच्च सुरक्षितमनुक्रमणीभिः॥२५॥

और उसकी रक्षा अनुक्रमणियों के द्वारा की गई है।

अनुक्रमणियों की रचना वेद की आनुपूर्वी (क्रम) की रक्षा के लिये हुई। ऋक्सर्वानुक्रमणी से यह बात विशेष रूप से सिद्ध होती है। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदों की आनुपूर्वी वही थी जो वर्तमान में उपलब्ध है। दोनों में यत्किंचित् भेद नहीं है। उन सर्वानुक्रमणियों के टीकाकार भी इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। अनुक्रमणियों में वेदों के मण्डलों व अध्यायों तथा उनके अन्तर्गत सूक्तों, मन्त्रों व पदों का वही क्रम सुरक्षित है जो सृष्टि के आदि में ऋषियों को परमात्मा से प्राप्त हुआ था। इसकी पुष्टि अगले सूत्र में की गई है—

ब्राह्मणैश्च ॥२६॥
और ब्राह्मणों के द्वारा।

इस विषय में सबसे बड़ा प्रमाण वे ब्राह्मण कुल हैं जिनके तप और त्याग के फलस्वरूप वेद की आनुपूर्वी आज तक वैसी की वैसी सुरक्षित पहुँच रही है। इन ब्राह्मणकुलों ने वेद मन्त्रों के जटा-माला-शिखा-रेखा-ध्वज-दण्ड-रथ घन पाठादि को कण्ठस्थ करके वेद के एक एक अक्षर, मात्रा और स्वर को यथास्थान रख कर उनकी रक्षा की है और यथाशक्ति अब भी कर रहे हैं। उनके पाठ में किसी प्रकार का व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। यदि यह प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने न होता तो हम इतने बलपूर्वक नहीं कह सकते थे कि वेद में किसी प्रकार का परिवर्त्तन, परिवर्द्धन नहीं हुआ। वास्तव में ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण भारतवर्ष में ही मिलेगा जहां किसी ग्रन्थ के एक एक अक्षर और मात्रा को यथाक्रम सुरक्षित रखने के लिए ऐसी सुन्दर तथा सुनियोजित व्यवस्था लाखों करोड़ों वर्षों से निरन्तर चली आ रही हो। वेद की आनुपूर्वी को सुरक्षित रखने का यह ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है ॥२६॥

सृष्टि प्रवाह से अनादि है। एक जाती है, दूसरी आती है। और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। परन्तु जब जब भी सृष्टि होगी तब तब वेद अपने वर्त्तमान स्वरूप में उपलब्ध होगा। इस विषय का विवेचन अगले सूत्र में किया है—

कल्पादौ वेदोत्पत्तिर्यथापूर्वं सूर्यचन्द्रयोरिव ॥२७॥
प्रत्येक कल्प में पहले जैसे ही वेद का प्रादुर्भाव होता है, सूर्य और चन्द्रमा की भांति।

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की व्यवस्था अनुमान तथा शब्द दोनों प्रमाणों से सिद्ध हैं। तब उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है। जब जगत् का परिवर्त्तनशील होना प्रत्यक्ष है तब **न कदाचिदनीदृशं जगत्** (जगत् सदा से इसी रूप में चला आ रहा है) यह सिद्धान्त कैसे ठहर सकता है? सृष्टि प्रवाह से अनादि होने के कारण यह सृष्टि परब्रह्म की कोई नवीन रचना नहीं है। ऐसी कोई स्थितियाँ प्रादुर्भूत नहीं हो सकतीं जिनका जात्यात्मक ज्ञान इस सृष्टि के सूत्रधार सर्वकालद्रष्टा जगन्नियन्ता को पहले से न हो। अतः उसकी सृष्टि रचना के नियम, उत्पादन आदि सारी व्यवस्थायें प्रत्येक सर्ग में समान रहती हैं। स्वयं भगवान् की घोषणा है—**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** (ऋग्० १०.१९०.३)। परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्रमा को पूर्वकल्प के समान बनाया है। यहाँ सूर्य और चन्द्रमा उपलक्षणार्थ हैं। महाप्रलय के अनन्तर जब सर्ग की आवृत्ति होती है—पुनः सृष्टि की रचना होती है तो वह पहली सृष्टि के समान ही होती है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि एक स्वर से इसी की आवृत्ति करते हैं। यह शब्दप्रमाणोपदिष्ट तत्त्व सर्वथा तर्कानुमोदित है।

सृष्टि की रचना जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार होती है। तब वह उसी रूप में होनी चाहिये जिस रूप में जीवात्माओं ने धर्माधर्म का अनुष्ठान किया है। इसलिये विगत सृष्टि और वर्त्तमान सृष्टि में पूरी समानता होना अनिवार्य है। जब सृष्टि पहले जैसी होगी तो उसका विधान कैसे भिन्न हो सकता है? जब स्रष्टा, जब सृष्टि और भोक्ता तीनों वही हैं जो सदा से चले आ रहे हैं तो सबको व्यवस्थित रूप में चलाने वाले ईश्वर के नियम भी अनिवार्यतः वही होंगे। अतः यही सिद्धान्त युक्तियुक्त ठहरता है कि प्रत्येक कल्प में जब जब सृष्टि होती है तब तब परमात्मा द्वारा वेद इसी रूप में प्रादुर्भूत होते हैं।

ब्रह्म नित्य है। उसका ज्ञान भी नित्य तथा एक रस है। प्रलय सृष्टि की होती है, ईश्वर की नहीं। ईश्वर का ज्ञान उसके साथ बना रहता है। इसीलिये मेधातिथि कहते हैं—**नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि**—महाप्रलय में भी वेदों का नाश नहीं होता। न्यायभाष्यकार कहते हैं—**मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्**—अतीत या अनागत मन्वन्तर वा युगान्तरों से वेद अविच्छिन्न चले आ रहे हैं। अतः नित्य हैं।

मनुस्मृति (१.२३) टीका में कुल्लूकभट्ट ने लिखा है—**पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्त्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष।** अर्थात् जो वेद पूर्व कल्प में थे वे ही वर्त्तमान कल्प के आदि में अग्न्यादि के द्वारा प्रादुर्भूत हुए।

योगदर्शन के भाष्यकार व्यासमुनि **तस्य वाचकः प्रणवः** (यो० द० १.२७) की व्याख्या में कहते हैं—**सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्धः।** प्रत्येक सर्ग में उसी वाच्यवाचक शक्ति के आधार पर संकेत किया जाता है। अतः न केवल वेद नित्य है, अपितु ज्ञान की नित्यता से शब्दार्थ का संबन्ध भी नित्य है।

वेदान्त दर्शन के एक सूत्र **अतएव च नित्यत्वम्** (१.३.२६) का भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने महाभारत से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

कल्पान्त में अन्तर्निहित वेदों को ही अगले सर्ग के प्रारंभ में महर्षि प्राप्त कर लेते हैं। **न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि**—अनादि परम्परा से प्राप्त होने के कारण वेदों के स्वतन्त्र रूप से बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। उन्हें नित्य मान कर **अनादिनिधना वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा**—परमात्मा द्वारा निर्मित न कह कर **उत्सृष्ट** कहने का यही अभिप्राय है कि नित्यवाणी रूप वेदों को परमात्मा ने प्रकाशित कर दिया। वेद उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत जो प्रलयकाल में व्यवहार में न होने से अव्यक्त हो जाते हैं वे ही सर्ग के आदि में व्यक्त हो जाते हैं।

शब्दराशि वेदों की आनुपूर्वी में कोई अन्तर नहीं होता अर्थात् उनमें शब्द, अक्षरादि का क्रम यथापूर्व रहता है। जिन शब्दों के जो अर्थ गत सृष्टि में प्रतिपादित किये गये थे वर्त्तमान सृष्टि में भी उसी प्रकार किये जाते हैं। सर्गादिकाल में वेदज्ञान और वेदोच्चारण की प्रेरणा ऋषियों के मस्तिष्क में परब्रह्म द्वारा प्राप्त होती है। उस ब्राह्मी प्रेरणा में किसी प्रकार के अन्तर की संभावना नहीं होती—उसमें एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता ॥२७॥

वेद शब्द से जिस ईश्वरीय ज्ञान का ग्रहण होता है वह निश्चित रूप से नित्य है। परन्तु जिन ग्रन्थों या पुस्तकों को वेद नाम से जाना जाता है वे कदापि नित्य नहीं हो सकते। एतदर्थ कहा है—

न पुस्तकानित्यत्वाद् वेदानित्यत्वम् ॥२८॥

पुस्तकों के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं।

पुस्तकों का निर्माण कागज़, स्याही आदि द्वारा होता है। ये सभी पदार्थ तथा लेखन-मुद्रण की क्रिया मनुष्यकृत है तथा देशकालसमयावच्छिन्न होने से नाशवान् हैं। वेद तो शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्धस्वरूप हैं, पुस्तकरूप नहीं। अतः पुस्तक के नाशवान् अर्थात् अनित्य होने से वेदज्ञान अनित्य नहीं हो सकता। वे तो बीजांकुर न्याय से ईश्वर के ज्ञान में सदा वर्त्तमान रहते हैं। प्रलयकाल में आवश्यकता न रहने पर अव्यक्त हो जाते हैं और सर्गकाल में पुनः व्यक्तावस्था में प्रादुर्भूत हो जाते हैं ॥२८॥

चतुर्थ अध्याय

वेद में पुनरुक्ति

तदप्रामाण्यं पुनरुक्तदोषात् ॥१॥

उस (वेद) का प्रामाण्य नहीं हो सकता, पुनरुक्त दोष होने से।

पुनरुक्त दोष वक्ता के प्रमाद को प्रमाणित करता है। वेद में अनेकत्र यह दोष पाया जाता है। इस दोष के रहते न **बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे** को स्वीकार किया ज सकता है और न उसके रचयिता को भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त माना जा सकता है। ऐसी अवस्था में वेद के प्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता ॥१॥

इस विषय का विवेचन करने से पूर्व पुनरुक्त दोष का लक्षण करते हैं—

पुनः पुनः कथनं पुनरुक्तिः ॥२॥

किसी बात को बार बार कहना पुनरुक्ति कहाती है ॥२॥

सा च द्विधा शब्दार्थभेदात् ॥३॥

और वह (पुनरुक्ति) शब्द और अर्थ भेद से दो प्रकार की होती है।

जब किन्हीं शब्दों को बार बार कहा जाता है तो वह **शब्दपुनरुक्त** कहाता है जैसे—**नित्यः नित्यः** अथवा **शीघ्रं गच्छ शीघ्रं गच्छ**।

जब भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को बार-बार कहा जाये तो अर्थपुनरुक्त कहाता है। जैसे—**नित्यं शाश्वतम्** अथवा **अग्निमीडे पावकं स्तौमि**। यहाँ शब्दों की आवृत्ति न होने पर भी प्रयुक्त शब्दों का अर्थ एक ही है ॥३॥

पदपादाधर्चमन्त्रसूक्तभेदेन तु पञ्चधा ॥४॥

किन्तु पद, पाद, अर्धर्च, मन्त्र और सूक्त भेद से पांच प्रकार की है।

पद पुनरुक्ति—जहां एक ही मन्त्र में एक या अनेक पद बार-बार प्रयुक्त हों। जैसे—

१. **उप त्वाग्ने दिवे दिवे**। (ऋ० १-१.७)

२. **मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति** (ऋ० १.१२९.६)

३. **कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति**। (यजु० १.६)

४. **मधुमन्तं मधुश्चुतम्**। (ऋ० ४.५७.२)

उपर्युक्त मन्त्रांशों में दिवेमन्म, रेजति, युनक्ति तथा मधुमन्तम् पदों का एकाधिक बार प्रयोग हुआ है।

पाद पुनरुक्ति—(क) जहाँ पूरा पाद (चरण) पुनः-पुनः अनेकत्र प्रयुक्त हो। जैसे—

१. **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।** (यजुः ३४.१ से ६)
२. **कस्मै देवाय हविषा विधेम।** (यजुः २५.१० से १३, ३२.६, १२.१०२)
३. **इन्द्रायेन्दो परिस्रव।** (ऋ० ९ सूक्त ११२, ११३, ११४ के प्रत्येक मन्त्र में)
४. **मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।** (यजुः ३७.३ से १०)
५. **तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।** (अ० १०.७.३२ से ३४ तथा १०.८.१)
६. **स जनास इन्द्रः** (ऋ० २.१२.१ से १४)
७. **अर्चन्ननु स्वराज्यम्।** (ऋ० १.८०.१ से १६)
८. **अप नः शोशुचदघम्।** (ऋ० १.९७.१ से ८)

(ख) जहाँ पूरा पाद (चरण) एक ही मन्त्र में पुनरुक्त हो। जैसे—

१. **त्र्यम्बकं यजामहे······पुष्टिवर्धनम्।** (यजु० ३.६०)
२. **प्रत्युष्टं रक्ष ······अरातयः।** (यजु० १.२९)
३. **उत्पुनामि······सूर्यस्य रश्मिभिः।** (यजु० १.३१)
४. **मखस्य त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।** (यजु० ३७.६, ७, १० में तीन-तीन बार तथा ८ व ९ में छह-छह बार)
५. **मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव।** (ऋग्० १०.१६६-५)

अर्धर्चपुनरुक्ति—(क) जहां आधी ऋचा (मन्त्र) पुनरुक्त हो। जैसे—

१. **तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे**—यह आधी ऋचा दसवें मण्डल (ऋग्वेद) के सूक्त ५८ के सभी १२ मन्त्रों में पुनः पुनः उपलब्ध होती है।
२. **आ तू इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु सहस्रेषु शुभ्रीषु सहस्रेषु तुवीमघ।** यह अर्धर्च ऋग्वेद मं० १, सू० २९ के सातों मन्त्रों में समान रूप से पाई जाती है।
३. अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ८ में मन्त्र ५ से २९ तक सभी २५ मन्त्र एक से हैं—केवल एक एक शब्द का अन्तर है।

(ख) कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ हिन्दी में प्रचलित गिरधर की कुण्डलियों की भांति एक मन्त्र के अन्तिम चरण का अगले मन्त्र के प्रारंभ में प्रयोग मिलता है। जैसे—

१. ············**विश्वस्य दूतममृतम्।** (यजु० १५.३२)
विश्वस्य दूतममृतम्············। (यजु० १५.३३)
२. ············**समुद्रवत्स्वाहुतः।** (यजु० १५.३३)
समुद्रवत्स्वाहुतः············। (यजु० १५.३४)

३. ....भद्रा उत प्रशस्तयः। (यजु० १५.३८)
भद्रा उत प्रशस्तयः............। (यजु० १५.३९)
मन्त्रपुनरुक्ति—जहां पूरा पूरा मन्त्र ही अनेकत्र उपलब्ध हो। जैसे—

१. तत्सवितुर्वरेण्यं .....आदि मन्त्र जो गायत्री मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है वह यजुर्वेद में ३ बार (३.३५, २२.९, ३०.२), ऋग्वेद में एक बार ३.६२.१० और सामवेद में एक बार (उ० प्र० ६ खं० ६ मं० ३) आया है। प्रारम्भ में भूर्भुवः स्वः व्याहृतियों के साथ पठित यह मन्त्र यजुर्वेद (३६ ३) में एक बार और भी आया है।

२. इलामग्ने पुरुदंसम्......यह पूरा मन्त्र ऋग्वेद मं० ३ के सूक्त १, ५, ६, ७ व १५ के अन्त में उपलब्ध है।

३ आपो हि ष्ठा मयोभुवः..........यह मन्त्र इन इन स्थानों में आया है—ऋ० १०.९.१, यजुः ११.५० व ३६.१४, साम० उ० प्र० ९ उत्तरार्ध मं० २२, अथर्व० १.५.१

सूक्त पुनरुक्ति—जहां सम्पूर्ण सूक्त पुनरुक्त होता है। जैसे—

१. ऋग्वेद १०-१० यम-यमी सूक्त अथर्व १८-१ में पुनरुक्त है। ऋग् १०-१५४ पांच मन्त्रों का आवृत्त सूक्त स्वल्प परिवर्त्तन के साथ अथर्व १८-२ में उपलब्ध है। ऋग्वेद १०-८२ विवाह सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। थोड़े से क्रमादि के भेद से यह सम्पूर्ण सूक्त अथर्व १४-१ में आया है। ऋग्वेद १०-९० पुरुष सूक्त कुछ परिवर्त्तन के साथ यजुर्वेद १०-३१ तथा अथर्ववेद १९.६ में भी है। इस सूक्त के कुछ मन्त्र सामवेद में पूर्वार्चिक के अरण्य पर्व में भी उपलब्ध हैं।

२. कहीं-कहीं सम्पूर्ण सूक्त नहीं, किन्तु उसके दो तीन या अधिक मन्त्र उसी क्रम से उसी वेद में या अन्य वेदों में पुनरुक्त हैं। जैसे—कया नश्चित्र .....आदि ऋग् ४-३१ के पहले तीन मन्त्र ठीक इसी क्रम से यजुर्वेद अ० २७ मं०३९-४१ तथा अ० ३६ मं० ४-६ इन दो स्थानों पर, सामवेद में उत्तर० प्र० १ ख० ३ में और अथर्ववेद में काण्ड २० सूक्त १२४ मन्त्र १-३ में पुनरावृत्त हुए हैं।

इनके अतिरिक्त अनेकत्र ऐसा भी देखने में आता है जहां एक ही भाव अनेक बार पुनरुक्त हुआ है, भले ही भाषा भिन्न हो। जैसे इन्द्र वृत्रों का संहारक, ऐश्वर्यशाली, दानी और सोमरस का पीने वाला है। उषा द्युलोक की पुत्री, ज्योतिष्मती तथा अन्धकार को उच्छिन्न करने वाली है। अग्नि देवों का दूत, हवि का भक्षण करने वाला और ज्योतिष्मान् है। इस प्रकार के भाव वेदों में अनेकत्र पाये जाते हैं ॥४॥

वेद में पुनरुक्ति होने पर भी उसे दोष नहीं माना जा सकता। इसके समर्थन में पहला हेतु देते हैं—

वेदेषु पुनरुक्तिर्न दोष ईश्वरोक्तत्वात् ॥५॥
ईश्वरोक्त होने से वेदों में पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जा सकता ।

वेद को मानवी रचना मानने पर तो उसमें दोषों की संभावना **हो सकती है**। परन्तु उसे सर्वज्ञ परमेश्वर का निःश्वसित ज्ञान मानने पर उसमें दोष दर्शन से अपनी ही अल्पज्ञता प्रमाणित होती है । **न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते**– कोई भी बुद्धिमान् पुरुष प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । फिर, परमेश्वर तो मनीषी है । भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की उसमें कल्पना नहीं की जा सकती । अतः उसकी कोई भी क्रिया निष्प्रयोजन अथवा स्मृतिभ्रंशता या अज्ञानवश नहीं हो सकती । बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वै० द० ६-१-१) परमेश्वर के नैसर्गिक नित्यज्ञान के बोधक वेद में– उसके अमर काव्य में जो वाक्यरचना है, पद व पदसमूहों की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है । अतः जहाँ शब्द अथवा अर्थ की पुनरुक्ति प्रतीत होती हो वहां उसके विशेष अभिप्राय को जानने के लिए गंभीरतापूर्वक यत्न करना चाहिये । यदि किन्हीं व्याख्याकारों ने इस प्रकार के प्रसंगों में विशेषार्थ को प्रकट नहीं किया तो वह व्याख्याकारों का दोष है, न कि वेदों का । महाभाष्यकार ने पाणिनीय शास्त्र के लिये लिखा है—

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ।

अर्थात् किसी सूत्र में सन्देह मात्र से उसे अलक्षण-शास्त्र नियम विरुद्ध नहीं समझ लेना चाहिये, अपितु व्याख्यान के द्वारा विशेषार्थ के परिज्ञान का यत्न करना चाहिये । जिस प्रकार आर्ष वा अनार्ष ग्रन्थों के पुनरुक्ति दोष की निवृत्ति के लिये सूक्ष्म विवेचना की जाती है उसी प्रकार वेदों के पुनरुक्तता दोष के निवारणार्थ भी प्रयत्न अपेक्षित है । यह खोज का विषय है, श्रमसाध्य है, प्रतिभासाध्य है । महाभाष्यकार ने ठीक ही कहा है—**एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति**। जिस वेद का अपना अंग—मुखभूत व्याकरण शब्द की इस गरिमा का उद्‌घोष कर रहा हो, वह वेद स्वयं शब्दों का निरर्थक प्रयोग कर पुनरुक्ति-दोषभाक् बने, यह कैसे संभव है ? ॥५॥

इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

प्रयोजनवत्त्वात् ॥६॥
सप्रयोजन होने से ।

प्रयोजनशून्यत्वे पदवाक्ययोः पुनः पुनः कथनं पुनरुक्तिदोषः—शब्द या वाक्य का बार-बार निष्प्रयोजन बोलना पुनरुक्तिदोष कहाता है । परन्तु जहाँ शब्द या शब्द समूह का बार-बार प्रयोग किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये किया जाता है वहाँ वह पुनरुक्त न होकर **अनुवाद** कहाता है । भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा एक ही

अर्थ का कथन भी सप्रयोजन होता है। इस प्रकार किसी विशेष अर्थ का प्रयोजन होने से अनुवाद दोषावह नहीं होता। **गच्छ गच्छ** अथवा **जाओ, जाओ** में **गच्छ** अथवा **जाओ** का दो बार प्रयोग निरर्थक नहीं है, अपितु **जल्दी चले जाओ** इस विशेष अर्थ का द्योतक है। **अनुवादोपपत्तेः** न्यायदर्शन के इस सूत्र (२.१.६०) की व्याख्या करते हुए वात्स्यायनमुनि ने पुनरुक्त तथा अनुवाद का भेद इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तः अर्थवानभ्यासोऽनुवादः शीघ्रतरगमनोपदेशवत्।

अर्थात् जहाँ पुनरुक्ति निरर्थक होती है, वहां वह दूषित होती है। जहाँ अनुवाद सार्थक होता है वहां निर्दोष होता है। जैसे—**शीघ्रं शीघ्रं गम्यताम्** में दो बार **शीघ्रम्** का प्रयोग अत्यन्त शीघ्रता का सूचक है। वेद में पुनरुक्ति सार्थक अथवा सहेतुक होने से दोषावह नहीं है॥६॥

सार्थकाभ्यासोपपत्तेः॥७॥

अभ्यास (पुनः कथन) के सार्थक सिद्ध होने से।

वेद में कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। पद पुनरुक्ति के दो भेद हैं—सुबन्त की पुनरुक्ति और तिङन्त की पुनरुक्ति। वैयाकरणों के मतानुसार सुबन्त की पुनरुक्ति से वीप्सा=व्याप्ति अर्थ गम्यमान होता है। जैसे—**ग्रामो ग्रामो रमणीयः** =प्रत्येक ग्राम रमणीय है। यहाँ रमणीयता की व्याप्ति ग्राम ग्राम में है—यह अर्थ प्रतीत होता है। तिङन्त की पुनरुक्ति से क्रिया का पुनः होना विदित होता है। जैसे—**देवदत्तः पचति पचति**=देवदत्त पकाता ही रहता है। इनके लिये पाणिनीय सूत्र है—**नित्यवीप्सयोः** (अ० ८.१.४)।

इस नियम के अनुसार **दिवे दिवे** का अर्थ होगा—प्रतिदिनम् (सायण)। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धात्वर्थ को प्रधानता देते हुए अर्थ किया है—**विज्ञानस्य प्रकाशाय प्रकाशाय** अर्थात् विज्ञान के प्रत्येक प्रकाश के लिये। इसी प्रकार वेद में जहाँ तिङन्त की पुनरावृत्ति है वहाँ उससे क्रिया का पुनः पुनः होना अभिप्रेत है।

संध्या में **ओं वाक् वाक् ओं प्राणः प्राणः** आदि कहा जाता है। यहां **वाक् वाक्** में पहला वाक् उद्देश्यभूत है, दूसरा विधेयभूत। वाणी में 'वाक्त्व' अर्थात् यथार्थ कथनरूपी गुण अभिप्रेत है, काम्य है। यही भाव प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि के पुनरुक्त होने में निहित है। विवाह प्रकरण में 'पाद्यं पाद्यं पाद्यम्' यह तीन बार अभ्यास है। परन्तु पुनरुक्त प्रतीत होने पर भी सार्थक है। वस्तुतः मन-वचन-कर्म तीनों का निर्देश होने से तीन बार कथन सुतरां युक्तियुक्त है।

तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे (ऋ० १०-५८) यह आधी ऋचा इस सूक्त के सभी १२ मन्त्रों में पुनरावृत्त हुई। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में **मनो जगाम दूरकम्** यह द्वितीय चरण भी बार बार प्रयुक्त हुआ है। इस सूक्त में मूर्च्छित व्यक्ति की नष्ट हुई चेतना को लौटाने के लिये अपने दृढ़ संकल्प और भैषज्य कौशल

को व्यक्त करने तथा रोगी के सम्बन्धियों को विश्वास तथा सान्त्वना देने के लिये बार बार कहता है—यदि तुम्हारी चेतना मृत्यु के पास भी जा पहुँची है तो भी तत्त आवर्त्तयामसि उसे लौटा कर लाता हूं।

अथर्ववेद काण्ड २ के ३३व सूक्त में यक्ष्मा को दूर करने का विधान है। यक्ष्मा पीड़ित व्यक्ति के मनोबल को बढ़ाने के लिये, उसके विभिन्न शरीरावयवों को निर्देश करके उसे आश्वस्त करने के लिये बार-बार **विवृहामि** पद को बोलकर कहता है "चाहे तेरे किसी अंग में यक्ष्मा क्यों न प्रविष्ट हो गया हो मैं उसे निकाल दूंगा—तुझे मरने नहीं दूंगा" ॥७॥

वेद में पुनरुक्ति अदोष है—इस विषय में अन्य युक्तियाँ देते हैं—

अर्थवैशिष्ट्यनिदर्शनात् ॥८॥

विशिष्ट अर्थ को प्रकट करने से।

किसी वेद मन्त्र के एक समान शब्दरूप के अन्य किसी स्थान पर आ जाने मात्र से ही पुनरुक्ति दोष नहीं समझ लेना चाहिये। **मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव** (ऋ० १०.१६६.५) में आपाततः पुनरुक्ति प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः दोनों उपमान वाक्यों में अपनी अपनी विशेषता है। प्रथम वाक्य में **मण्डूकाः** पर बल है, क्योंकि उपमावाची पद उसी के साथ हैं। अभिप्राय यह कि मेरे नीचे रहते हुए तुम प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही बोल सकते हो जैसे जल में मेंढक बोलते हैं। दूसरे वाक्य में **उदकात्** पर बल है। अर्थात् जैसे मेंढक जल में ही बोलते हैं वैसे ही तुम्हें बोलने का अधिकार तभी तक है जब तक तुम मेरे अनुशासन में हो। विद्रोही बनते ही यह अधिकार छिन जायेगा ॥८॥

प्रकरणभेदाद् भिन्नार्थसिद्धेः ॥९॥

प्रकरणभेद से भिन्न अर्थ सिद्ध होने से।

वेदों में बार बार आये अनेक मन्त्रों के अर्थ सर्वत्र एक जैसे नहीं हैं, प्रकरण वा देवता भेद से भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, हम सुप्रसिद्ध मन्त्र **देव सवितः प्रसुव यज्ञम्**···को लें। यह मन्त्र जब यजुर्वेद (९-१) में आया है तो वहां राजसूय प्रकरण होने के कारण **देव सवितः** आदि पदों को सम्राट् परक मान कर मन्त्र का राजनीति से सम्बन्धित अर्थ किया गया है। यही मन्त्र यजुर्वेद (११-७) में जब योग के प्रकरण में आया है तो वहाँ इसकी परमेश्वरपरक व्याख्या की गई है।

सनादग्ने मृणसि·········मुक्षत दैव्यायाः—यह मन्त्र वेदों में चार बार आया है। एक बार ऋग्वेद (१०-८७-१९) में, एक बार सामवेद (पूर्व० आ० अ० १, खं० ८ मं० ८) मे और दो बार अथर्ववेद (५-२९-११ व ८-३-१८) में। ऋग्वेद में यह राष्ट्र के सेनानी को लक्ष्य करके कहा गया है—शत्रुओं का नाश

करने के लिये । सामवेद में भक्ति के प्रसंग में परमेश्वर को संबोधन करके चित्त में व्याप्त राक्षसी भावों का संहार करने की प्रार्थना की गई है । अथर्ववेद में पहले स्थान पर अग्नि से प्रसंग (रोगकृमियों का नाश) के अनुसार यज्ञाग्नि का ग्रहण करके मन्त्र का अर्थ किया है । द्वितीय स्थल में अग्नि से रोगों के संहारक वैद्य का ग्रहण किया गया है ।

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः............(ऋ० ४-५८-३ व यजुः १९-९१) इस मन्त्र को ईश्वरपरक मान कर 'चत्वारि शृङ्गा' का अर्थ चार वेद, **त्रयोऽस्य पादाः** का उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदि किया गया है । यास्क ने यज्ञपरक मानकर **चत्वारि शृङ्गा** का अर्थ तो वेद किया परन्तु शेष पदों के अर्थ यज्ञ विषयक किये । महाभाष्यकार पतंजलि ने मन्त्र का अर्थ शब्दपरक करते हुए नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को चार सींग बताया ।

ईश्वर के विशिष्ट गुणों के कारण उसे **हिरण्यगर्भः, आत्मदा बलदा, प्राणतो निमिषतः** राजा तथा **तेन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः** के रूप में स्मरण किया गया है । इन गुणों के अनुरूप ही महर्षि दयानन्द ने **कस्मै देवाय हविषा विधेम** के चार भिन्न अर्थ किये हैं ।।९।।

वेदभेदात् ।।१०।।

वेद भेद से अर्थ भेद है ।

जब एक ही मन्त्र भिन्न भिन्न वेदों में आता है तो पृथक् पृथक् विद्या, विज्ञान, कर्म और उपासना के द्वारा शरीर, मन और प्राण की साधना का द्योतक होता है । चारों वेदों का मुख्य उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति होने पर भी ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान भेद से उस मन्त्र अथवा सूक्त के तद् तद् वेदानुसार अर्थ हो जायेंगे । ऋग्वेद में ज्ञानप्रधान, यजुर्वेद में कर्मप्रधान, सामवेद में उपासनाप्रधान और अथर्ववेद में विज्ञानपरक अर्थ होंगे । जैसे **आपः सूक्त** के मन्त्रों का जलपरक, परमेश्वरपरक, नारीपरक और ब्रह्मचर्यपरक अर्थ होता है । **अश्वत्थे वो निषदनम्** । यजुर्वेद (३५-४) में इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ है । परन्तु ऋग्वेद (१०-९७-५) में ओषधिसूक्त के अन्तर्गत होने से इसी मन्त्र का ओषधि परक अर्थ है । **शुनं हुवेम मघवानमिन्द्र** । यह मन्त्र ऋग्वेद और सामवेद दोनों में आया है । ऋग्वेद में राजधर्म प्रकरण के कारण इसका अर्थ राजपरक है । परन्तु सामवेद में उपासना विषय में इसका अर्थ ईश्वरपरक है । इस प्रकार वेद भेद से अर्थभेद होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं रहता ।।१०।।

ऋषिदेवतास्वरच्छन्दोभेदात् ।।११।।

ऋषि, देवता, स्वर और छन्द भेद के कारण (अर्थभेद होने से पुनरुक्ति दोष नहीं)

यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोऽधीते याजयति वा जीर्यते वा प्रमीयते वा प्रमायुको वा यजमानः स्यात् ।

अर्थात् ऋषि, छन्द और देवता के ज्ञान के बिना यदि कोई मन्त्रोच्चारण करता है या यज्ञ करता है तो वह नष्ट हो जाता है। वह स्वयं और उसका यजमान भी मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। इस सिद्धान्तानुसार मन्त्रार्थ को समझने के लिये ऋषि, छन्द आदि का ज्ञान आवश्यक है। ऋषि, देवता आदि का भेद हो जाने से मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय और चिन्तन शैली में मौलिक भेद हो जाता है। पूर्वचर्चित मन्त्र **अश्वत्थे वो निषदनम्**...। का ऋग्वेद और यजुर्वेद में छन्द एक होने पर भी दोनों के ऋषि और देवता में भेद है। ऋग्वेद में इसका ऋषि **भिषगाथर्वणः** और देवता **ओषधि** है। परन्तु यजुर्वेद में ऋषि **आदित्याः देवाः** और देवता **वायुः सविता** है। तदनुसार ही अर्थभेद होने से पुनरुक्ति दोष का निराकरण हो जाता है। देवता भेद से तो एक-एक मन्त्र के कई-कई अर्थ हो जाते हैं। तब उनमें पुनरुक्ति दोष रहीं रहता ॥११॥

सकलविद्येतरेतराश्रयत्वात् ॥१२॥

समस्त विद्याओं के एक दूसरे पर आश्रित होने से (पुनरुक्त होने पर भी दोष नहीं)।

वेद समस्त विद्याओं का भण्डार है। ये विद्यायें एक दूसरे से संबन्धित हैं। गणित, ज्योतिष, भौतिकी तथा वास्तुकला परस्पर स्वतंत्र विद्यायें हैं। परन्तु फिर भी एक दूसरे से सम्पृक्त हैं। गणित के बिना किसी की गति नहीं। किसी भी विषय का विवेचन करते समय गणित का उल्लेख हुए बिना नहीं रहेगा। वास्तुकला की बात में रसायन और भौतिकी की चर्चा अवश्य होगी। दर्शन, विज्ञान पर और विज्ञान दर्शन पर निर्भर हैं। चिकित्सा विज्ञान में रसायन शास्त्र साथ साथ चलेगा। संसार का प्रत्येक पदार्थ और ज्ञान एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ा है कि एक काम दूसरे के बिना नहीं चल सकता। जितना विशद विवेचन हम किसी विषय का करेंगे उतना ही अधिक दिग्दर्शन विवेच्य विषय से संबन्धित अन्य विषयों का करना होगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार एक विषय के मन्त्र विविध विषयों के विवेचन में सहायक होने के लिये अनेकत्र उद्धृत हुए हैं। आपाततः वे पुनरुक्त जान पड़ते हैं। परन्तु वस्तुतः वे वहाँ सप्रयोजन होने से पुनरुक्ति दोष से आरोपित नहीं किये जा सकते ॥१२॥

धातूनामनेकार्थत्वात् ॥१३॥

धातुओं के अनेकार्थक होने से।

धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। इस कारण उस धातु से संबन्ध रखने वाले शब्द के भी अनेक अर्थ हो जाते हैं। जैसे **अव्** धातु के १८ अर्थ होते हैं—**अव्** रक्षण गतिप्रवृत्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थवाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्ग

हिंसादानभागवृद्धिषु ॥ तथा जहां भी गत्यर्थक धातु होगी, उसके ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थ होंगे। ऋग्वेद (१-३-७) में **ओमासः** पद के १९ अर्थ दिये हैं। इसी प्रकार एक शब्द भी अनेक धातुओं से निष्पन्न होता है। **इन्द्र** पद भिन्न-भिन्न धातुओं से निष्पन्न होकर प्रकरणानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अतः एक सूक्त अथवा एक मन्त्र में बार बार आने पर भी विभिन्न अर्थों का वाचक होने से उसे पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद (१ १९-९) का एक मन्त्र है—

वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो वृषणा हरि वृषभाण्यायुधा। वृष्णो मदस्य वृषभ स्वमीशिष इन्द्र सोमस्य वृषभस्य तृष्णुहि ॥

इस मन्त्र में **वृषन्** पद भिन्न भिन्न रूप से सात बार प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इससे **वृषन्** पद के अनेक महत्त्वपूर्ण अर्थों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे— वृषभ=अत्युत्तम, वृषा= दूसरे की शक्ति को प्रतिबन्धित करने वाला, वृषा= वेगवान्, वृषणा=बलिष्ठ, वृषभाणि=शत्रुओं के बल को रोकने वाला, वृष्णः= बल करने वाला और वृषभस्य=पुष्टि करने वाला। इस प्रकार धातुज मूल भाव के सब अर्थों में अन्वित होते हुए भी मन्त्रगत भिन्न भिन्न पदार्थों के गुणों का प्रकाश होता है।

यजुर्वेद का १६वां अध्याय **नमः** अध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्र में **नमः** पद के सत्कार, अन्न और दण्ड अर्थ हैं। यहाँ सत्कार करने योग्य पदार्थों के साथ **नमः** का अर्थ सत्कार होगा, पालन करने योग्य वस्तुओं के साथ अन्न और विनाश वाचक पदों के साथ दण्ड ॥१३॥

विभिन्नार्थे विनियोगात् ॥१४॥
विभिन्न कार्यों में विनियोग होने से।

विनियोग के अनुसार एक ही मन्त्र का विभिन्न यज्ञों तथा अवसरों पर प्रयोग होने से पुनरुक्ति सदोष नहीं रहती। जैसे—सन्ध्या में दो अवसरों पर आचमन का विधान होने से **शन्नो देवी** इत्यादि मन्त्र का पुनरुक्त होना दोष नहीं माना जा सकता। इसी मन्त्र का जब उपासना विषय में विनियोग होता है तो **देवी आपः** दिव्यगुणयुक्त परमेश्वर का वाचक है। विज्ञान काण्ड में विनियोग किये जाने पर अथर्ववेद में वही सूक्ष्म जल और औषधि रूप जल के अर्थ का द्योतक हो जाता है।

उपनयन संस्कार में पठित **आपो हि ष्ठा मयोभुवः** इत्यादि यजुर्वेद (३६।१४-१६) के तीन मन्त्र विवाह संस्कार में भी विनियुक्त हुए हैं। **मम व्रते ते हृदयं दधामि** इत्यादि गृह्यसूत्र का यह मन्त्र किंचित् अन्तर के साथ उपनयन, वेदारम्भ तथा विवाह संस्कारों में प्रयुक्त हुआ है। विनियोग के अनुसार अर्थभेद होने से इस प्रकार पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जा सकता ॥१४॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१५॥

अनेक बार उपदेश से अभ्यास अपेक्षित है।

प्रयोजन की सिद्धि होने तक अभ्यास का नैरन्तर्य अपेक्षित है। जब तक साक्षात्कार न हो जाय तब तक अपेक्षित साधनों की आवृत्ति आवश्यक है। जब तक चावल न निकल आये तब तक धान का कूटना चालू रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये योगाङ्गों का बार बार अनुष्ठान करते रहना पड़ता है। एक बार उपदेश से जो ज्ञान होता है, वह केवल शाब्दज्ञान है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के बिना अभीष्ट की सिद्धि संभव नहीं।

उपदेश को आवश्यक जान कर उसे बार बार कहा जाता है। **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**, का बार बार कथन मन की पवित्रता पर बल देने के लिये किया जाता है। **राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि** तथा **अर्चन्ननु स्वराज्यम्** जैसे वचनों की आवृत्ति राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना को पुष्ट करने के लिये की गई है। **तेभ्यो नमो\`\`\`\`\`जम्भे दध्मः**— विभिन्न दिशाओं के पृथक् पृथक् अधिपति, रक्षिता तथा **इषवः** के साथ संयुक्त कर इन पदों की बार बार आवृत्ति का उद्देश्य है—उपासक के हृदय में ईश्वर की व्यापकता, उसके गुण, कर्म तथा सामर्थ्य को जान कर उसके न्याय में विश्वास तथा आत्मसमर्पण की भावना को सुदृढ़ करना। उपदेष्टा के समान वेदों के उपदेष्टा परमेश्वर का बार बार उपदेश देना निष्प्रयोजन न होकर अभ्यासार्थ होने से पुनरुक्त होने पर भी अदोष है ॥१५॥

शिष्यहितार्थं प्रपञ्चवत् ॥१६॥

शिष्यों के हितार्थ प्रपंच (विस्तार) के समान।

अध्यापक जब किसी बात को अध्येता के मन में बद्धमूल करना चाहता है तो वह उसे कभी उन्हीं शब्दों में और कभी उस अर्थ के द्योतक भिन्न शब्दों में बार बार कहता है। महाभाष्य की सन्दर्भ पुनरुक्ति के विषय में वैयाकरणों का मत है कि आचार्य पतंजलि जिस विषय को अध्येताओं के हृदयों में सम्यक् प्रकार अंकित करना चाहते हैं तो उस विषय के पूरे सन्दर्भ प्रसंगानुसार अनेक बार दुहराते हैं। शबर स्वामी ने भी मीमांसा भाष्य में छात्रों के लाभार्थ की गई सन्दर्भ पुनरुक्ति को सार्थक माना है। महर्षि पतंजलि **अस्य सूत्रस्य शाटकं वयेति** इस दृष्टान्त को अनेकत्र देते हैं। क्या उन्हें कोई और दृष्टान्त नहीं मिल सकता था ? परन्तु एक ही दृष्टान्त को बार बार देने से अध्यापन कार्य सरल हो जाता है, क्योंकि नये दृष्टान्त को समझने में हर बार व्यर्थ ही अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है।

लोक में भी अध्यापक किसी बोध्य अर्थ को किन्हीं नियत शब्दों द्वारा एक बार बोल कर अध्यापन कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता। उसे कभी एक ही शब्द को अनेक बार कह कर और कभी विविध शब्दों व विधियों द्वारा अपनी बात

समझानी पड़ती है। छात्र को भी अपना अधीत पाठ— शब्द तथा अर्थ दोनों रूप में— बार बार बोल कर याद करना पड़ता है। यही शैली पूर्वेषामपि गुरु परमेश्वर के उपदेश में भी यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के बार बार कथन को शास्त्र में **अभ्यास** कहा गया है। **अभ्यास** पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता, चाहे वह अध्यापक गुरु या उपदेष्टा के द्वारा हो अथवा अध्येता या उपदेश्य द्वारा ॥१६॥

अर्थसाम्येऽपि भाववैशिष्टयात् ॥१७॥
अर्थ समान होने पर भी भाव की विशिष्टता होने से।

कभी कभी शब्द और अर्थ दोनों में समानता प्रतीत होती है। परन्तु गंभीरता-पूर्वक विचार करने पर अन्तर स्पष्ट हो जाता है। शब्द का विश्लेषण करते ही रहस्य खुल जाता है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद (३-५७-२) में पर्जन्य को कहा गया है कि वह हमें ऐसी जलधार प्रदान करे जो **मधुमान्** भी हो और **मधुश्चुत** भी हो। आपाततः देखने पर यहां एक ही ऋचा में समानार्थक दो पद आ जाने से पुनरुक्त दोष दिखाई देता है। परन्तु वास्तव में इन दोनों पदों के अर्थ में अन्तर है। यह अनिवार्य नहीं कि जो मधुमान् हो वह मधुस्रावी भी अवश्य हो। ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो धनवान् तो होते हैं किन्तु धन की बर्षा—दान नहीं करते। इस वेद मंत्र में पर्जन्य से ऐसी जलधार की कामना की गई है जो स्वयं भी मधुर एवं शुद्ध हो और वनस्पति आदि को मधुर रस से आप्लावित करने वाली हो।

इसी प्रकार **हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्** (ऋ० २-३५-१०) इत्यादि मन्त्र में अग्नि को हिरण्यरूप तथा हिरण्यसंदृक् कहा है। समानार्थक प्रतीत होने पर भी निरुक्ताकार यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं मानते। उनके मत में इन दोनों शब्दों के अभिप्राय में भी स्पष्ट अन्तर है। यह आवश्यक नहीं कि जो सुनहरे रूप वाला हो वह सुनहरा दिखाई भी पड़े। शत्रु कितना ही सुन्दर अथवा गुणवान् क्यों न हो तो भी वह कुरूप और गुणहीन ही प्रतीत होगा।

इस सन्दर्भ में ये दो मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ अथर्व० १९-१२-१
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ यजु० १८-४८

ऊपर से देखने पर इन दोनों मन्त्रों का एक ही अर्थ प्रतीत होने से यहाँ पुनरुक्ति दोष कहा जा सकता है। प्रथम मन्त्र में सबमें प्रिय होने की प्रार्थना है

तो दूसरे में सबसे रुचि— प्रेम रखने की प्रार्थना है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों मन्त्र पृथक् पृथक् भाव के द्योतक मालूम होते हैं। पहले मन्त्र में जहां दूसरों से प्यार पाने की कामना है वहां दूसरे मन्त्र में स्वयं दूसरों को प्यार करने की इच्छा है। दोनों ओर से प्यार होने में ही प्रेम का परिपाक होता है। इस प्रकार भाव एवं उद्देश्य की भिन्नता से अर्थ भेद हो जाता है जिससे वहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं रहता ॥१७॥

भूयस्त्वप्रदर्शनात् ॥१८॥
भूयस्त्व (प्राबल्य) दिखाने के लिये।

पुनरुक्ति का एक उद्देश्य किसी उद्दिष्ट अर्थ के प्रति भूयस्त्व दर्शाना, उसमें श्रद्धा का अतिरेक उत्पन्न करना भी होता है। ऋग्वेद मं० १०, सू० ११९ के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में **कुवित्सोमस्यापामिति** शब्दों की आवृत्ति की गई है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र से प्रारम्भ में भगवान् की भक्ति से आविर्भूत भक्त अपनी भाव-विह्वलता का उल्लेख करता हुआ अन्त में कहता है कि मेरी इस उमंग का कारण यह है कि मैंने **कुवित्सोमस्यापामिति**— भर पेट सोमरस का पान किया है। प्रभुभक्तिरूपी सोमरस के पान से प्राप्त होने वाले असीम एवं अद्भुत सामर्थ्य के प्रति विश्वास दृढ़ करने के लिये ही बार बार ऐसा कहा गया है। **तन्मे मनः शिव-संकल्पकस्तु, कस्मै देवाय हविषा विधेम** आदि वाक्यों की पुनरावृत्ति का भी यही प्रयोजन है ॥१८॥

भावोद्रेकात् ॥१९॥
भाव के आतिशय्य के कारण।

कभी कभी हृदय के भावोद्रेक की अभिव्यक्ति के लिये भी पुनरुक्ति की आवश्यकता होती है। ऋग्वेद (४-३२-२०) का मन्त्र है—

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्याभर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि ॥

हे प्रभो ! आप बहुत दानी हैं। हमें बहुत दीजिये। कम नहीं, बहुत दीजिये। सचमुच आप बहुत बड़े दाता हैं। तर्क से देखें तो जब **भूरिदा** कह दिया तो **भूरि दित्ससि** कहना व्यर्थ है। इसी प्रकार जब **भूरि देहि** कह दिया तो **मा दभ्रं भूर्याभर** कहना व्यर्थ है। परन्तु दानी और याचक अथवा भगवान् और भक्त के बीच तर्क नहीं चलता, क्योंकि वहां भावना प्रधान होती है। इस प्रकार के वचनों से भगवान् के प्रति भक्त की आस्था, आतुरता तथा याचना के पूर्ण होने का विश्वास प्रकट होता है। इसी प्रकार की भावना अथर्ववेद (६-१९-१) के इस मन्त्र में मिलती है—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनन्तु मा ॥

भयशोकानुकम्पादिप्रदर्शनात् ।।२०।।
भय, शोक, अनुकम्पा आदि के प्रदर्शन के कारण ।

भय, शंका, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय, त्वरा, उत्साह आदि के प्रदर्शनार्थ पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जाता । यह काव्य शास्त्र का सर्वसम्मत सिद्धान्त है जैसा कि आचार्य भामह तथा दण्डी के इन वचनों से प्रमाणित है—

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ।। काव्यालङ्कार ४-१४
अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते ।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया ।। काव्यादर्श ३-१३७

वेद की कई पुनरुक्तियां इन अर्थों में आने से अदोष हैं ।।२०।।

काव्योत्कर्षोपपत्तेः ।।२१।।
काव्य का उत्कर्ष सिद्ध होने से ।

वैदिक मान्यता के अनुसार वेद का रचयिता ईश्वर है और पाश्चात्य मतानुसार मनुष्य । परन्तु दोनों अवस्थाओं में रचयिता कवि हैं । कवि भी तुक बन्दी करने वाले नहीं हैं । ईश्वर कविरूप में मनीषी है तो मनुष्य सूक्ष्मद्रष्टा ऋषि । कवि की कृति काव्य कहाती है । यदि कालिदास आदि के काव्यों में पद, चरण, श्लोकार्ध अथवा पूरा श्लोक समान रूप से अनेक बार प्रयुक्त होने पर भी पुनरुक्त नहीं माने जाते, प्रत्युत अलंकार योजना अथवा अन्यार्थ बोधन के लिये आवश्यक माने जाते हैं तो वेदरूपी काव्य में उन्हें दोषावह कैसे माना जा सकता है । वेंकट माधव के अनुसार—

आवर्त्तयन्ति सूक्तीश्च यथाऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ।

अनेक स्थानों पर (गीतिकाव्य के सिद्धान्तानुसार) सूक्तियों की आवृत्ति होती है । जैसे—**अर्चन्ननु स्वराज्यम् ।**

वेंकट माधव ने 'शब्दावृत्त्यनुक्रमणी' में लिखा है—

एवं च पूरणः पादो निरस्थिराणि चिदोजसा ।
अभ्यासान्ननु चात्रापि भूयानर्थः प्रतीयते ।। ४-१-११

अर्थात् ऋग्वेद १-१२७-४) में जो पाद पुनरुक्ति है, वह अभ्यास से भूयान् विशेष अर्थ की प्रतीति का उदाहरण है ।

ऋग्वेद (१-१२९-६) में **मन्म रेजति** तथा **अवस्रवेत्** पुनरुक्त हैं । इसका समाधान करते हुए निरुक्तकार कहते हैं—**अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते अहो दर्शनीयो ऽहो दर्शनीयः** । अर्थात् जहां पुनरुक्ति से अर्थ में चमत्कार आ जाता हो वहां वह वांछनीय है । जैसे **अहो दर्शनीय** दो बार कहने से दृश्य पदार्थ में विशेष चमत्कार की अनुभूति होती है ।

चमत्कार काव्य का प्राण है जो अलंकार योजना से उत्पन्न होता है। श्लेषालंकार में एक शब्द के एक समय में दो अर्थ अपेक्षित होते हैं। यमक में एक ही शब्द विभिन्न अर्थों में एकाधिक बार प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार अनुप्रास के विभिन्न भेदों से काव्य में अभिनव सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। **कवयामि वयामि यामि**—(कविता करता हूँ, बुनता हूँ, जाता हूँ) यहाँ तीन पदों की अलंकार-पूर्णयोजना से जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है वह पुनरुक्ति के कारण ही है जो न केवल अदोष है, प्रत्युत सौन्दर्य की उत्पादक है ॥२१॥

वेद में पुनरुक्ति को अदोष सिद्ध करने के लिये भिन्न भिन्न हेतु प्रस्तुत करने के पश्चात् व्याकरण शास्त्र से एक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भारतीय वैयाकरण तो **अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः** इस उक्ति के द्वारा पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी की अल्पाक्षर रचना पद्धति की प्रशंसा करते ही हैं, पाश्चात्य विद्वान् भी उसकी सूक्ष्मेक्षिकापूर्ण विशिष्ट रचना पर मुग्ध हैं। उस अष्टाध्यायी में भी पुनरुक्त सूत्रों की कमी नहीं है। अतः वेद की पुनरुक्ति के अदोष होने में अष्टाध्यायी पर आधारित एक हेतु देते हैं—

बहुलं छन्दस्यादेरष्टाध्याय्यां पुनरुक्तत्वात् ॥२२॥

बहुलं छन्दसि आदि सूत्रों के अष्टाध्यायी में पुनरुक्त होने से।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में ऐसे अनेक सूत्र हैं जो उसी शब्दानुपूर्वी में एक से अधिक बार पढ़े गये हैं। वैदिक व्याकरण की लौकिक व्याकरण से भिन्नता तथा विशेषता बताने के लिए बहुलं छन्दसि सूत्र इसी आनुपूर्वी में १४ बार पढ़ा गया है। एक बार तो वह २-४-७३ के बाद २-४-७६ में अर्थात् केवल दो सूत्रों के बाद ही पुनः पढ़ा गया है। परन्तु प्रकरणभेद से प्रत्येक प्रकरण में भिन्न भिन्न अर्थ होता है। इस शब्दात्मक पुनरुक्ति को अनर्थक नहीं कहा जा सकता। सूत्र पुनरुक्ति के समान पद-पुनरुक्ति (जैसे तदधीते तद् वेद—४-२-५८) तथा अर्थ-पुनरुक्ति (जैसे विशेषणं विशेष्येण बहुलम्—२-१-५६) के भी अनेक उदाहरण मिलेंगे। फिर वेद मन्त्र तो व्याकरण के सूत्र नहीं हैं, काव्य हैं। वहाँ काव्योचित पुनरुक्ति तो सर्वथा अदोष होगी ॥२२॥

पञ्चम अध्याय

वेदार्थ-प्रक्रिया

वाचः फलमर्थः ॥१॥

वाणी का फल अर्थ है ।

शब्द का प्रयोजन किसी अर्थ का बोध कराना होता है । जिस शब्द से किसी अर्थ का बोध न हो वह निरर्थक वा व्यर्थ कहाता है । आचार शास्त्र में निरर्थक अपार्थक अथवा व्यर्थ शब्दों के बोलने का निषेध है । साधन का आसन साध्य से नीचे होता है । जब शब्द अर्थ बोध कराने का साधन है तो उसका साध्य हुआ—अर्थ या अर्थबोध । अतः शब्दरूप वेद उसके अर्थ की अपेक्षा से अवर ठहरता है । अर्थात् शब्द से अर्थ का महत्त्व अधिक है । इसलिए जो व्यक्ति अर्थ को जाने बिना तोते की भांति केवल मन्त्रों को रट लेता है उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता । ऐसे व्यक्ति के लिये निरुक्त (१-१८) में कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न वि जानाति योऽर्थम् ।

अर्थात् जो वेद का पाठमात्र करता है, परन्तु उसका अर्थ नहीं जानता वह बिना गुणबोध के डाली, पत्ते, फल, फूल को सिर पर धारण करने वाले वृक्ष अथवा ईंट-पत्थर का भार ढोने वाले पशु के समान है ।

उपर्युक्त स्थाणु की उपमा को सुश्रुत (सूत्रस्थान अध्याय ४) में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद् वहन्ति ॥

जैसे चन्दन के भार को ढोने वाला गधा इतना ही जानता है कि उसके ऊपर भार लदा है, यह नहीं कि उसे चन्दन जैसी अमूल्य तथा उपयोगी वस्तु प्राप्त है । वैसे ही अनेक शास्त्रों को पढ़ कर भी अर्थज्ञान की दृष्टि से मूढ़ मनुष्य गधे की भांति अपनी स्मृति में शब्दों के भार ही ढोते हैं । अर्थज्ञान के अभाव में उससे मिल सकने वाली सुगन्धि से लाभान्वित नहीं हो पाते । अर्थज्ञान के बिना वेद पाठ में किये परिश्रम को व्यर्थ बताते हुए वहीं (नि० १-१८) एक अत्यन्त मार्मिक बात कही है—

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

जो बिना समझे ग्रहण किया जाता है—पढ़ा जाता है और पाठमात्र से उच्चरित होता है, वह पठित शास्त्र अग्निरहित स्थान में पड़ी सूखी लकड़ियों की भांति कभी प्रज्वलित नहीं होता—ज्ञान का प्रकाश नहीं करता ।

इसके विपरीत अर्थज्ञानपूर्वक वेदपाठ करने वाले के सम्बन्ध में वहीं पर कहा है—**योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा** । अर्थात् जो वेद को पढ़ता और यथावत् उसका अर्थ जानता है वह ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर (**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**—गीता ४-३७) मृत्यु के उपरान्त परम सुख—मोक्ष को प्राप्त करता है—

अर्थज्ञान रहित और अर्थज्ञान सहित—दोनों प्रकार के मनुष्यों की तुलना करते हुए ऋग्वेद (१०-७१-४) में बड़े ही सुन्दर कवित्वपूर्ण शब्दों में कहा—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे व जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

केवल मन्त्र रटने वाला मूर्ख वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं जानता । इसके विपरीत अर्थज्ञाता के लिये वेदवाणी अपना पूर्ण स्वरूप उसी प्रकार प्रकट करती है जिस प्रकार उत्तमोत्तम वस्त्र धारण करके ऋतुकाल में पति की कामना करती हुई स्त्री के पूर्ण शरीर को देखने का अधिकारी केवल उसका पति होता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक वेदार्थ को जानने वाला विद्वान् ही वेदवाणी के रहस्य को देखकर समझ सकता है ।

फिर भी, जो मनुष्य वेदों के अर्थ को नहीं जानता परन्तु मन्त्रपाठ करता है वह उसकी अपेक्षा अच्छा है जो पाठमात्र भी नहीं करता । केवल मन्त्र स्मरण कर लेने मात्र से भी मनुष्य को कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है । उसकी स्मृति में अच्छे शब्द रहते हैं और इस प्रकार वह वेद की रक्षा करने में सहायक होता है—दाक्षिणात्य ब्राह्मणों की भांति ॥१॥

परन्तु मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष हर किसी को नहीं होता। उसके लिये अपेक्षित गुणों का उल्लेख करते हैं—

नानृषेरतपसो मन्त्रार्थप्रत्यक्षम् ॥२॥
ऋषि और तपस्वी के अतिरिक्त अन्य कोई मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता ।

मन्त्रार्थ का विशद ज्ञान ऋषि वा तपस्वी को ही हो सकता है । **साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो** बभूवुः—किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को ऋषि कहते हैं । साक्षात्कार का अर्थ है—जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में निश्चयपूर्वक जानना । **आप्त** पद **आप्लृ व्याप्तौ** धातु से निष्पन्न होता है जिसका भाव है पूर्ण जानकारी । कैसा भी व्यक्ति अपने सीमित विषय में विशेष जानकारी रखने के कारण साक्षात्-कृतधर्मा होने से आप्त होता है । तदनुसार न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि

ने **ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं** लक्षणम् (न्याय० १-१-७) ऋषि, आर्य, म्लेच्छ अर्थात् उत्तम विद्वान्, मध्यम, साधारण जन आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों को समान रूप से **आप्त** मान लिया है। सीमित क्षेत्रों में यह लक्षण काम दे सकता है। परन्तु समस्त विद्याओं के एकमात्र आदिमूल ईश्वरीय वाणी वेद के अर्थ को जानने में ऐसा प्रत्येक व्यक्ति समर्थ नहीं हो सकता। अतः वेदार्थप्रक्रिया में सर्वोपरि प्रमाणभूत निरुक्त के अनुसार **पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यः** (नि० १३-१२) परम्परागत विद्या ग्रहण कर्त्ताओं में, अनेक विद्याओं में पारंगतों में, ज्ञानियों में अधिक विद्यावाला प्रशंसा योग्य होता है। वहीं पर इतना और कहा है—**अनूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति** अर्थात् मन्त्रार्थ की स्फूर्ति दिखाने वाला **अनूचान** हो आर्ष होता है। देवल आदि धर्मसूत्रकारों ने अनूचान का अर्थ **षडङ्गवित्** किया है। वह **अनूचान**, मन्त्र का अर्थ करते हुए जो भी वेद से अविरोधी तर्क करता है वह आर्ष होता है। इन समस्त गुणों का समन्वय करते हुए महर्षि दयानन्द ने **आप्त** का लक्षण किया है—**पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी जितेन्द्रिय पुरुष** जैसा अपनी आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित होकर सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, वही **आप्त** होता है। इस प्रकार आप्त शब्द के वात्स्यायन द्वारा प्रतिपादित अर्थ का संकोच करके महर्षि दयानन्द ने आप्त एवं ऋषि को **सामान्य जानकार** लोगों की अपेक्षा कहीं ऊंचे आसन पर बिठाया है। मन्त्रार्थ के प्रत्यक्ष करने अथवा वेदभाष्य करने के अधिकार को तो उन्होंने और भी सीमित कर दिया है। इस विषय में उनका कथन है—**धर्मात्मा योगी महर्षि** लोग जब जब जिस अर्थ के जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित होकर परमेश्वर के रूप में समाधिस्थ हुए, तब तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। इस प्रकार वेदार्थ की क्रिया एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया का प्रयोग वे ही कर सकते हैं जो पूर्ण पवित्रात्मा हों। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा आदि साधनों से सम्पन्न, अत्यन्त मेधावी तथा पूर्ण योगाभ्यासी हों ॥२॥

विकासवादी मनुष्य को निरन्तर विकासशील प्राणी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत भारतीय मान्यता के अनुसार वह काल में अपरिमित सामर्थ्य वाला होकर क्रमशः सत्त्वहीन होता गया है। इस विषय का विवेचन अगले सूत्र में किया है—

ह्रासोन्मुखो मानवः ॥३॥

मनुष्य ह्रासोन्मुख है।

प्राचीन मानव आज के मानव से शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सभी रूपों में कहीं अधिक उन्नत एवं सामर्थ्यवान् था। उसके मानवीय गुणों में

क्रमशः ह्रास हो रहा है। इसका प्रमाण किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूंढा जा सकता है जिसका आदि मानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। कम से कम एक बात ऐसी है जो प्राचीन काल के मनुष्य में थी और जिसके चिन्ह आज तक विद्यमान है। वह है भाषाविज्ञान। प्राचीनतम भाषा की तुलना आधुनिकतम भाषा से की जा सकती है। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक भाषा संस्कृत से, संस्कृत प्राकृत तथा ग्रीक, लैटिन आदि पाश्चात्य भाषाओं से अधिक भाव प्रकट करने में सक्षम, अधिक उच्चारणों को अंकित करने में समर्थ और वैज्ञानिक आधार पर अधिक गठित थी। वर्त्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं परन्तु न तो उनमें प्राचीन भाषाओं का सा लालित्य और भावाभिव्यक्ति की क्षमता है और न थोड़े में बहुत कहने का सामर्थ्य है। उनमें अक्षरों की संख्या कम होती जा रही है। स्मरणशक्ति में कमी हो जाने से मनुष्य विभक्तिरहित भाषाओं का निर्माण कर रहा है। किसी भी भाव को प्रकट करने के लिये ढेरों शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। यह सब मानव सामर्थ्य में ह्रास के लक्षण हैं। यही सिद्धान्त ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होता है। वेदों की तो बात ही क्या, पदार्थ विज्ञान प्रतिपादक वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन की बारीकियों को भी समझने का सामर्थ्य आज का मानव खो बैठा है ॥३॥

इस पृष्ठभूमि में वेदार्थ जानने की आवश्यकता पर प्रकाश डालने के लिये अगला सूत्र कहा गया है—

अपचीयमानसत्त्वानामुपदेशार्थं व्याख्यानम् ॥४॥

क्रमशः सत्त्वहीन मानवों के लिये वेदों के व्याख्यान की आवश्यकता पड़ी।

आदि काल में धर्म का साक्षात् करने वाले ऋषि थे। वे स्वयमागत विज्ञान थे। उन्हें मन्त्र और ज्ञान के तत्त्व स्वयं ज्ञात हुए। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जिन ऋषियों ने परमेश्वर के ज्ञान वेद का साक्षात्कार किया उनका ज्ञान उपदेश द्वारा आगे बढ़ा। सर्गादि में जब मानव बुद्धि निर्मल और स्मृति धारणा शक्ति से युक्त थी तब सत्त्व-शुद्ध तेज से देदीप्यमान अपरिमित सामर्थ्य वाले विद्वान् सीधे वेदों से ही सब तरह का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। उस समय वेद को छोड़ कर अन्य कोई शास्त्र न था। जब उत्तर काल में मानव क्रमशः सत्त्वहीन, अल्पमति और प्रवर्धमान रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत होने लगे और उपदेश द्वारा भी वेद में विद्यमान विद्याओं को ग्रहण करने में असमर्थ हो गये, तब विस्तारपूर्वक सुगम उपाय से विविध विद्याओं का ज्ञान कराने के लिये विविध शास्त्रों की रचना की गई। इस शास्त्रावताररूप इतिहास का निरुक्तकार यास्काचार्य ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु वेदं च वेदाङ्गानि च ।

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में (साक्षात्कृतधर्मा) मन्त्रार्थ को साक्षात् करने वाले ऋषि हुए थे । उन्होंने (असाक्षात्कृतधर्मा) मन्त्रार्थ को साक्षात् न जानने वाले मनुष्यों के लिये उपदेश से मन्त्रों के अर्थ जताये । उत्तरकाल में अथवा हीन मेधावाले, उपदेश से ग्लानि करते हुए (उपदेशमात्र से न समझ सकने वाले) लोगों ने वेद तथा वेदाङ्गों का अभ्यास किया ।

निरुक्त के उपर्युक्त उद्धरण में **वेदं समाम्नासिषुः** का अर्थ आधुनिक लोग **वेद बनाये** ऐसा करते हैं । स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ **सम्यगभ्यासं कारितवन्तः** किया है । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में किये गये स्वामी दयानन्द के इस अर्थ की पुष्टि **निरुक्तवार्त्तिक** के निम्न स्थल से होती है—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा ।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः ॥

अर्थात् जब लोग उपदेश मात्र से वेद को ग्रहण करने में असमर्थ हो गये तब उन्हें वेद तथा वेदांगों का साथ साथ अभ्यास कराना प्रारम्भ किया और वे अभ्यास करने लगे । वहीं पर उपदेश शब्द का अर्थ भी इस प्रकार स्पष्ट किया है—

उपदेशश्च वेदव्याख्या । यथोक्तम्—
अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि ।
व्याख्यैवात्रोपदेशस्स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः ॥

अर्थात् यहाँ **उपदेश** का अर्थ वेद की व्याख्या है । **वेदं च वेदाङ्गानि च** का अर्थ **वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः** कैसा स्पष्ट लेख है ।

यास्काचार्य के मत का समर्थन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने (बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२-२) लिखा है—

दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते ।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम् ॥

अर्थात् जिनके लिये ज्ञान दुर्बोध्य हुआ और जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिये वेदों से लेकर ऋषियों ने सब शास्त्र बनाये ॥४॥

वेदार्थ परिज्ञान में सहायक मुख्य साधनों का उल्लेख करते हैं—

वेदार्थपरिज्ञानाय वेदाङ्गोपाङ्गानि ब्राह्मणादयश्च ॥५॥

वेदार्थ को जानने के लिये वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा ब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं ।

वेद विद्या के प्रसार के लिये निरुक्तकार ने उपर्युक्त तीन ऐतिहासिक स्तर बताये—साक्षात्कार, मन्त्रोपदेश तथा वेदाङ्ग समाम्नान । निरुक्त के पाठ से ऐसा

प्रतीत होता है कि वेदाङ्ग समाम्नान भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने ही किया। हारीत धर्मसूत्र में स्नातक के प्रकरण में वेदाङ्ग तथा गोपथ ब्राह्मण (पू० १-२७) में षडङ्गवित् स्मृत हैं। तैत्तिरीय आरण्यक (२-९) में वेदाङ्गों का स्पष्ट उल्लेख है। उपलब्ध ब्राह्मणों से बहुत पहले बाल्मीकि रामायण में अनेकत्र वेदाङ्गों की चर्चा है। आरंभ (बा० का० १-१४) में ही राम को **वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः** बताया गया है। इसी काण्ड में अन्यत्र (५-२३) अयोध्या के ब्राह्मणों को भी **वेदषडङ्गपारग** कहा गया है। पुनः सर्ग १४, श्लोक २१ में राजा दशरथ की सभा के सदस्यों के विषय में कहा गया है—**नाषडङ्गविदत्रासीत्** अर्थात् उनमें कोई भी षडङ्गज्ञान से रहित नहीं था।

षडङ्गप्रवर्त्तकों में शिव और बृहस्पति अति प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। महाभारत (शा० प० २१२-३२) में वेदाङ्गानि बृहस्पतिः का उल्लेख करके शिव के संबन्ध में (२८४-९२) कहा गया है—**वेदात् षडङ्गानुद्धृत्य**। इस सबसे स्पष्ट है कि वेदाङ्गों का निर्माण उनसे बहुत पहले हो चुका था। यह बात महाभारत युद्ध से अर्थात् विक्रम संवत् ३००० वर्ष से भी बहुत पहले की है। इस प्रकार वेदाङ्गों का पठन-पाठन बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। रामायण से भी बहुत पहले मानवधर्मशास्त्र में **षडङ्गवित्** (३-१८५) तथा **वेदाङ्गानि** (४-९८) जैसे प्रयोगों से वेदाङ्गों की प्राचीनता सिद्ध है। **अनूचान** शब्द का सामान्य अर्थ विद्वान् है। परन्तु देवल के धर्मसूत्र में उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

> **वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः शुद्धात्मा पापवर्जितः।**
> **शेषं श्रोत्रियवत् प्राप्तः सोऽनूचान इति स्मृतः॥**

इस प्रमाण के अनुसार अन्य गुणों से युक्त होने के साथ साथ **अनूचान** का वेदाङ्गवित् होना अनिवार्य है।

सर्वज्ञानमय वेद को समझने के लिये वेदाङ्गों की भांति ही उपाङ्ग, उपवेद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत-गृह्य सूत्र आदि विशाल वाङ्मय का ज्ञान अपेक्षित है, क्योंकि इनमें प्राचीन वेदार्थ संबन्धी अनेक रहस्यों के संकेत विद्यमान हैं। इसलिए वेद का यथावत् अध्ययन अङ्गोपाङ्ग सहित ही हो सकता है। महाभाष्य में महामुनि पतञ्जलि स्पष्ट लिखते हैं—

> **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ॥५॥**

अब वेदाङ्गों का निरूपण करके प्रत्येक की विस्तृत व्याख्या करते हैं—

शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषाख्यानि वेदाङ्गानि ॥६॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छह वेदाङ्ग हैं।

अंग का अर्थ है लक्षण अथवा चिह्न। जिनके बिना समष्टि शरीर का ज्ञान पूर्णरूप से न हो सके वे अंग कहाते हैं। प्राणि-शरीर के अंगों में भी यह भाव

पाया जाता है और वानस्पतिक लता, वृक्ष आदि सत्ताओं में भी शाखाप्रशाखाओं से उसी का बोध होता है। वेद के भी छह अंग हैं जिनके बिना वेद का याथातथ्य ज्ञान कठिन ही नहीं, असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों के लिये असंभव सा है। वेद के ये छह अंग हैं—

शिक्षा— संप्रति जिसे भाषाविज्ञान कहा जाता है, उसके तीन अंग हैं— उच्चारण, शब्दों का स्वरूप और उनके अर्थ। भारतीय मनीषियों ने भाषाशास्त्र के तीनों अंगों के निरूपण के लिये क्रमशः शिक्षा, व्याकरण तथा निरुक्त शास्त्र का अन्वाख्यान किया है।

वैदिक भाषा की एक विलक्षणता है जो संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं देखी जाती। वेद में जितने भी मन्त्र हैं, प्रत्येक मन्त्र में जितने पद हैं और प्रत्येक पद में जितने अक्षर हैं उनमें से प्रत्येक अक्षर की अपनी स्वतन्त्र जन्मभूमि —धातु है और उसी के अनुसार उसका अपना स्वतन्त्र अर्थ है। यदि प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर का अलग अलग अर्थ समझ लिया जाये तो उन अर्थों जो मिला कर शब्द का और फिर उस शब्द समुदाय से मिल कर बने अर्थ का को भाव निकलेगा वह विलक्षण होगा। इसी के लिये शिक्षाशास्त्र की रचना की गई। अष्टाध्यायी के महाभाष्यकार पतंजलिमुनि कहते हैं—

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्त्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थञ्चोपदिश्यते॥

अक्षर का ज्ञान वाणी का विषय है जिसमें ज्ञान रहता है। उस ज्ञान के लिये, अभिलषित बोध के लिये और संक्षिप्त ज्ञान के लिये भी अक्षर ज्ञान का उपदेश दिया जाता है।

अर्थवन्तो वर्णाः धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामनेकवर्णानामर्थनिदर्शनात्। धातव एकवर्णा दृश्यन्ते। प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्तः। निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः।—महाभाष्ये।

सभी अक्षर अर्थ वाले होते हैं—धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय एवं निपातों में भी एक एक अक्षर अर्थवाला देखा जाता है। सब एक अक्षर वाले धातु अर्थ वाले हैं। प्रातिपदिक एक एक अक्षर वाला होने पर भी अर्थ रखता है और एक एक अक्षर रखने वाले निपात भी अर्थ वाले हैं।

शतपथ ब्राह्मण (१४-८-४-१) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (५-३-१) में हृदय शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार किया है—

तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरति 'द' इत्येकमक्षरं ददाति 'य' इत्येकमक्षरमेति।

अर्थात् हृदय शब्द हृञ् हरणे, दा दाने तथा इण गतौ—इन तीन धातुओं

से निष्पन्न होता है। हृ से **हरति** अर्थात् शिराओं से अशुद्ध रक्त लेता है, **द** से **ददाति** अर्थात् शुद्ध करने के लिए फेफड़ों को देता है और **य** से **याति** अर्थात् सारे शरीर में रक्त को गति देता है। हृदय के कार्य संबन्धी जिस वैज्ञानिक सिद्धान्त को इंग्लैण्ड निवासी डाक्टर हार्वे (१५७८-१६५७) ने १६२२ में जाना और यूनानियों ने ईसा से लगभग ३६० वर्ष पूर्व समझा था, उसे हृदय शब्द निर्वचन द्वारा अपने अक्षरार्थ से अनादि काल से कहता आया है। मस्तिष्क को भी हृदय कहते हैं, क्योंकि वह भी यह तीनों कार्य करता है—ज्ञान (संवेदन) तन्तुओं के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों से सूचना ग्रहण करता, क्रिया (प्रेरक) तन्तुओं के माध्यम से कर्मेन्द्रियों को कर्म में प्रवृत्त करने के लिये आवश्यक आदेश देता और इस प्रकार शरीर को गतिशील रखता है। जगत् को उत्पत्ति (**ज**—जायते=उत्पन्न होता है), स्थिति (**त्**—तिष्ठति=ठहरता है) और प्रलय (**ग**—गच्छति=चला जाता है अर्थात् सदा रहता नहीं) के कारण जगत् नाम से पुकारते हैं। **सम् उत् पूर्वक द्रु गतौ** धातु से समुद्र शब्द बनता है। **समभिद्रवन्त्येनमापः**—धरती का सारा जल नदी-नालों के रूप में उसकी ओर दौड़ता है और फिर **समभिद्रवन्त्यस्मादापः** वर्षा के द्वारा उससे जल प्राप्त होता है। इसीलिये उसे समुद्र कहते हैं। अन्तरिक्ष को भी समुद्र कहते हैं, क्योंकि वह वाष्प रूप में धरती को जल देता है।

छान्दोग्य उपनिषद् (३-१२-१) में गायत्री का निर्वचन करते हुए बताया है—

वाग्वै गायत्री, वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति त्रायते च।

अर्थात् वाणी ही गायत्री है, क्योंकि वही इस समस्त विश्व का गान करती और उसकी पालना एवं रक्षा करती है। इसीलिये शिक्षा को सबसे पहले अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

वेद में स्वर विज्ञान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह शिक्षाशास्त्र से ही जाना जाता है। हमारे ऋषियों ने व्याकरण आदि के समान ही स्वर को भी वेद के अर्थ और निर्वचन के लिये उपयोगी माना है। स्वर अपने कौशल से किस प्रकार अर्थ को पुष्ट करते हैं, इसे हम एक लौकिक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। एक व्यक्ति के पास एक ही समय में एक भिखारी और एक महाजन आते हैं। एक उससे भीख मांगता है जबकि दूसरा अपना ऋण के तौर पर दिया हुआ पैसा वापिस मांगता है। दोनों के मुख से एक जैसा शब्द दीजिए निकलने पर भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक के स्वर में करुणा है तो दूसरे के स्वर में दर्प अथवा क्रोध है। दोनों के स्वरों में अन्तर जानना हो तो उन्हें सारंगी के स्वरों में निकाल कर देखिये। तुरन्त मालूम हो जायेगा कि दोनों की सरगम भिन्न भिन्न है। आज कल संगीतलिपि जिसे अंग्रेज़ी में नोटेशन कहते हैं, सर्वत्र प्रचलित है। वेदमन्त्रों पर अंकित स्वर अपने शब्द का अर्थ निश्चित करने में सहायक होते हैं। संगीत की भाषा में—

उच्चैर्निषादगांधारौ नीचैर्ऋषभधैवतौ ।
शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

—याज्ञवल्क्यशिक्षा ।

जो निषाद और गांधार स्वर हैं वेद में उदात्त स्वर हैं, ऋषभ और धैवत अनुदात्त और शेष षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरित हैं। अनुदात्त स्वर का बोध नीचे पड़ी '—' रेखा से होता है, स्वरित्त का ऊपर खड़ी '।' रेखा से। उदात्त बिना चिन्ह के होता है—

क्या शिक्षा ग्रन्थों में, क्या प्रातिशाख्यों में, क्या निरुक्त में और क्या पाणिनि की अष्टाध्यायी में सर्वत्र स्वर को ध्यान में रख कर अर्थ करने की प्रेरणा की गई है। परन्तु यह स्वर वेदार्थ में किस प्रकार सहायक होता है— इसे बहुत कम लोग जानते हैं। अनेकार्थक धातुओं से निष्पन्न शब्दों की अनेकार्थता ही वेदमन्त्रों की अनेकार्थता का कारण है और मन्त्रों की अनेकार्थता ही वेदों की अनन्तता में हेतु है। परन्तु मन्त्रों में पठित शब्दों का नियमन स्वरविज्ञान के बिना नहीं हो सकता। **मा** शब्द का अर्थ निषेधात्मक **न** भी है और **माम्** (मुझको) भी है। कहां कौन सा अर्थ अभीष्ट है, इसका निर्धारण स्वर से ही होगा। अनुदात्त होने पर वह **माम्** सर्वनाम का बोधक होगा और उदात्त होने पर निषेधात्मक **न** का वाचक होगा। इस सन्दर्भ में महाभाष्य (१-१-१) की यह उक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

जो मन्त्र स्वर या वर्ण की हीनता से पढ़ा जाता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने से ठीक अर्थ को प्रकट नहीं करता। वह वाणी का वज्र बन कर प्रयोग करने वाले को ही मार डालता है—जैसे स्वर के अपराध (दोष) से इन्द्रशत्रु मारा गया।

इन्द्रशत्रुः यहाँ इकार में उदात्त स्वर (आद्युदात्त) बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तर पदार्थ का बोध हो जाता है। सूर्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है। यहाँ वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगितालंकार से किया गया है। समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त होने पर इन्द्र अर्थात् सूर्य की श्रेष्ठता सिद्ध होगी और आद्युदात्त होने पर मेघ की वृद्धि होगी।

ऋग्वेद (१०-१५-१४) की व्याख्या करते हुए ग्रीफिथ ने प्रथमा एकवचन **स्वराट्** (अन्तोदात्त) को **स्वराट्** (आद्युदात्त) समझकर सम्बोधन का रूप मान कर व्याख्या की। ऐसी ही भूल विलसन ने **प्रथमजा ब्रह्मणः** का अनुवाद करने में की है। पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा वेद में नहीं है। यदि ऐसा अभिप्रेत होता तो **ब्रह्मणः** मध्योदात्त (पुंल्लिङ्ग) होता। किन्तु स्वर बता रहा है कि यहां ब्रह्मणः आद्युदात्त होने से नपुंसकलिंग का रूप है। स्वर से लिङ्ग बदल जाता है। इसलिये

जिस प्रकार लौकिक संस्कृत में नपुंसक **मित्र** का अर्थ सुहृद् होता है परन्तु पुंल्लिग में इसका अर्थ सूर्य होता है, इसी प्रकार वेद में उसका अर्थ बैठने वाला है। नपुंसक **भूमन्** सृष्टि का वाचक है तो पुंल्लिग **भूमन्** महिमा या बहुत्व का। स्वर भेद के कारण ही ते (तत् का प्रथमा ब० व०) का अर्थ वे सब है, तो ते (युष्मदन्वादेश) का अर्थ तेरा या तुझे है **ज्येष्ठ** और **कनिष्ठ** पद यदि आद्युदात्त होंगे तो उनका अर्थ **आकार में छोटे बड़े** होगा, परन्तु यदि अन्तोदात्त होंगे तो **आयु में छोटे बड़े** होगा। **सुकृत** शब्द जब आद्युदात्त होगा तो **अच्छी प्रकार किया हुआ** के अर्थ में विशेषण होगा परन्तु जब अन्तोदात्त होगा तो वही **अच्छा कार्य** के अर्थ में संज्ञा होगा।

वर्त्तमान में पाणिनि मुनि कृत शिक्षा सूत्रों के दो संस्करण उपलब्ध हैं—महर्षि दयानन्द कृत **वर्णोच्चारणशिक्षा** तथा श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक कृत 'शिक्षा-सूत्राणि।'

कल्प—कल्प का अर्थ है बनाना—सुधार-संस्कार द्वारा निर्माण करना। कायाकल्प, आत्म-कल्प, राष्ट्र-कल्प आदि में यही भाव निहित है। आर्य जाति के सामाजिक, राष्ट्रीय एवं वैयक्तिक जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये ऋषियों ने गम्भीर चिन्तन के उपरान्त निर्धारित किया कि व्यष्टि से ही समष्टि अथवा समाज की रचना होती है। जैसे शरीर को बनाये रखने के लिये शुद्ध जलवायु, अन्न-वस्त्र, सोना-जागना आदि स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का पालन करना आवश्यक है, वैसे हो व्यक्ति के चारित्रिक विकास तथा उस पर आधारित समाज के निर्माण के लिये भी योजनाबद्ध रूप में कुछ साधनों का अपनाना आवश्यक है। इसी दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में व्यक्ति के निर्माण के लिये जन्म से मृत्यु पर्यन्त होने वाले सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई। मुख्यतः श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र और स्मृति ग्रन्थ इस कल्पसंज्ञक वेदाङ्ग के अन्तर्गत हैं। वर्त्तमान काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत संस्कारविधि भी इसी के अन्तर्गत है। अथर्ववेद आर्य जाति की आदिकालीन कल्पसंहिता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी कल्पविज्ञान के विषय में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं। परन्तु जीवन निर्माण, पारिवारिक संस्कार, समाज सुधार, राष्ट्रनिर्माण आदि विषयों में अथर्ववेद का विशेष अधिकार है। कल्पविज्ञान का उपदेश करने वाले इन्हीं मन्त्रों के आधार पर कल्पसूत्रों, धर्मसूत्रों, तथा स्मार्त्त धर्मशास्त्रों की रचना की गई है। अतः वेद को समझने के लिये इन ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है।

व्याकरण—**व्याकरण** का शब्दार्थ है पृथक्करण। इस प्रकार शब्दों की चीरफाड़ करने में सहायक शास्त्र व्याकरण कहाता है। ऋग्वेद (१-१६४-४५) में कहा है—**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः** अर्थात् वाणी चार प्रकार के पदों—नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात—में परिमित

अथवा सीमित है। उन चारों पदों को परिमार्जित बुद्धि रखने वाले मनीषी जानते हैं।

वाक् अथवा वाणी शब्द पारिभाषिक होने से यौगिक भी है, योगरूढि और रुढि भी। उपर्युक्त मन्त्र, उसके आन्तरिक भाव और बाह्य स्वरूप को भली भांति प्रकट करता है। वैयाकरणों ने इसी मन्त्र के आधार पर नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—शब्दों के ये चार विभाग किये हैं। तदनुसार ही यास्काचार्य ने निरुक्त (१-१) में कहा है—**तद्यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च तानि इमानि भवन्ति**। अष्टाध्यायी के महाभाष्यकार पतंजलि ने ऋग्वेद (४-५८-३) में आये **चत्वारि शृङ्गा** से **नाम आख्यात उपसर्ग** और **निपात** को ही शब्द ब्रह्म के चार शृङ्ग अर्थात् चोटियों के अर्थ में ग्रहण किया है। किसी भी संज्ञा वा विशेषणवाची पद को **नाम** कहते हैं। क्रियावाची या क्रियाविशेषण रूप पदों को **आख्यात** कहते हैं। वाक्य में सार्थक करने के लिये नाम या आख्यात को सुबन्त या तिङन्त रूप देना पड़ता है। उपसर्ग उन शब्दखण्डों को कहते हैं जो नाम या आख्यात के पहले लगाये जाते हैं। इन उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र अर्थ होता है। अपने इन्हीं स्वतन्त्र अर्थों के बल पर वे शब्दों के अर्थों को बदलने की शक्ति रखते हैं। प्रकृति के साथ लग कर प्रत्यय भी अर्थ विकार को उत्पन्न करता है। निपात ऐसे पदों को कहते हैं जो निर्विकार रह कर अपना कार्य करते-रहते हैं।

किसी भी शब्द का विकास जानने और तदनुसार उसका अर्थ निर्धारित करने के लिये व्याकरण आवश्यक साधन है। किसी भी शब्द के गूढ़ार्थ को, उसके मूल, शाखा, पत्तों और फूलों की भांति उसके धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि को अलग अलग करके समझने में व्याकरण ही सबसे बड़ा साधन माना गया है। वैदिक भाषा स्वतन्त्र भाषा है। अतः उसका व्याकरण भी स्वतन्त्र है। संस्कृत भाषा के आठ प्रसिद्ध व्याकरणों में पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी इस विषय का अन्तिम, सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक शास्त्र है। इसी में लौकिक प्रक्रियाओं के साथ साथ वैदिक प्रक्रियाओं का विशद निरूपण किया गया है।

मध्यकालीन तथा आधुनिक वेदभाष्यकारों का सबसे बड़ा दोष यही रहा है कि उन्होंने वैदिक भाषा और उसके आदिकालीन निज स्वरूप से सर्वथा अपरिचित होने के कारण लोकप्रचलित सामान्य संस्कृत वृत्ति से ही वेदों को पकड़ने का यत्न किया है। व्याकरण को वेद का अंग इसीलिये माना गया है, क्योंकि वह वैदिक शब्दार्थ जानने के लिये, सृष्टच्युत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रकृति-पुरुष की भांति, भाषा के मूल तत्त्वों प्रकृति-प्रत्यय को अलग अलग कर उनके अन्तस् में प्रवेश कराता है।

निरुक्त—निरुक्त वैदिक शब्दों की ही व्याख्या करता है। इसलिये उसका वेद से साक्षात् सम्बन्ध है और इसी कारण उसे वेद का निकटवर्त्ती अंग माना गया है। वैदिक शब्द-समुदाय यौगिक है। अतः उसका अर्थज्ञान निर्वचन के बिना संभव नहीं। जहां अन्य वेदाङ्गों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है, वहाँ निरुक्त शास्त्र केवल वैदिक शब्दों के मौलिक अर्थों के अनुसन्धान तक ही सीमित है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् वेदार्थ के लिये किन किन ग्रन्थों की रचना हुई—यह ठीक नहीं कहा जा सकता। इनके बाद का उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ यास्काचार्य का निरुक्त ही है जिसकी रचना केवल वेदार्थ का परिज्ञान करने के लिये ही की गई। यास्क को वैदिक विद्वानों में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। वर्तमान समालोचनात्मक भाषाविज्ञान का तो आदिम बीजवपनकर्त्ता इसी महर्षि को माना जाता है। निरुक्त ब्राह्मण ग्रन्थों का पूरक सा है। जहाँ तक संभव था, यास्क ने अपने अर्थों की पुष्टि में **इति विज्ञायते हैति ब्राह्मणम्** इत्यादि कहकर ब्राह्मण वचनों को उद्धृत किया है।

वस्तुतः निरुक्त यास्काचार्य द्वारा विरचित निघण्टु का भाष्य है। निघण्टु और निरुक्त दोनों का मूल वेद है। वेदों में प्रयुक्त सभी पर्याय पदों को क्रमबद्ध कर लिया जाये और निरुक्तियों तथा नामों के साथ साथ निरुक्तिबोधक क्रियाओं को भी एकत्र कर लिया जाये। फिर उनकी पुष्टि में उन्हीं वेदमन्त्रों का संकलन भी कर लिया जाये तो वैदिक निघण्टु और निरुक्त दोनों तैयार हो जायेंगे। इसी कारण यह कहा जाता है कि वेद का वास्तविक अर्थ स्वयं वेद से ही जाना जाता है।

छन्दःशास्त्र—यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः (ऋक् सर्वा. २-६)—इस आर्ष परिभाषा के अनुसार जिसमें भिन्न अक्षरों की एक निश्चित संख्या निर्धारित हो उसे **'छन्द'** कहते हैं। सृष्टि के आदिकाल से ही वाणी का व्यवहार दो प्रकार से होता आया है—एक गद्यमय और दूसरा पद्यमय। जिसमें गिनती के कुछ स्वर या व्यंजन निर्धारित हों उसे पद्य कहते हैं और जहां ऐसा बन्धन नहीं होता उसे गद्य कहते हैं। पद्य में जिन निश्चित वाक्यों का प्रयोग होता है उन्हें उनकी अक्षर गणना के आधार पर श्लोक, वृत्त आदि का नाम दे दिया जाता है। वैदिक छन्दों के जानने वालों में पिङ्गल नाम का एक प्रसिद्ध आचार्य हुआ है जो महावैयाकरण पाणिनि का छोटा भाई बताया जाता है। उनके नाम का अनुकरण करते हुए छन्द शास्त्र को पिङ्गल शास्त्र या केवल पिङ्गल कहा जाने लगा। छन्दों की गिनती सात स्वरों के अनुपात से सात ही है। कुछ और भी छन्द हैं, किन्तु वे सब इन्हीं सात के अवान्तर भेद होने से इन्हीं के अन्तर्गत हैं। वैदिक वाङ्मय जहाँ ज्ञानमय, कर्ममय, यज्ञमय और उपदेशमय है वहां रचना की दृष्टि से छन्दोमय है। वेदों के वाक्यार्थ बोध

के लिये छन्दोज्ञान की आवश्यकता के विषय में कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी (परि. १-४) में लिखा है— **मन्त्राणामार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति।** अर्थात् छन्दोज्ञान से वेदार्थज्ञान में प्रौढता आती है, क्योंकि वाक्यार्थबोध में इससे पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रकार वेदों का यथार्थज्ञान प्राप्त करने के लिये छन्दःशास्त्र का अध्ययन भी उतना ही आवश्यक है जितना अन्य वेदाङ्गों का।

ज्योतिष—आकाशगत सूर्य मण्डल से संबन्ध रखने वाले नक्षत्रविज्ञान को ज्योतिष कहते हैं। यही ज्योतिष शास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान या नक्षत्रविज्ञान वेद का छठा अंग है। अथर्ववेद (१२-३-२०) तीन लोकों का निर्देश करते हुए कहता है— **त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मनेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्।** ब्रह्म अर्थात् वेद का जानने वाला ज्ञानी पुरुष द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्योतिष शास्त्र के पारंगत विद्वान् भास्कराचार्य ने **सिद्धान्त शिरोमणि** में लिखा—**वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण। शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्त्वज्योतिषस्योक्तयस्मात्॥** अर्थात् वेद यज्ञीय कर्मों के प्रवर्त्तक है। यज्ञ उनमें काल के आश्रय कहे गये हैं। ज्योतिषशास्त्र से क्योंकि काल का ज्ञान ठीक ठीक होता है, इसी भाव से इस शास्त्र को वेदाङ्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है।

जितने भी श्रेष्ठ कर्म हैं वे सभी वेद में यज्ञ नाम से अभिहित हैं। प्रत्येक यज्ञीय कर्म काल की किसी न किसी सन्धि में सम्पन्न होता है। आर्य जीवन की संध्योपासना भी दिन रात की सन्धि में ही सम्पन्न होती है। काल का ज्ञान पृथिवी से सम्पर्क रखने वाले सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति पर निर्भर है। इसीलिये वैदिक ऋषियों ने पार्थिव पदार्थों के ज्ञान के साथ साथ नक्षत्र विद्या का सम्पादन भी आवश्यक समझा।

ऋग्वेद (१-१६१-४७) में सूर्य की ६-६ मास वाली दोनों परिधियों के द्वारा उत्तरायण—दक्षिणायन का ज्ञान मिलता है। वहीं (१-१०५-१८) चन्द्रमा की गति से बनने वाले शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का उल्लेख है। यजुर्वेद (१३-२५, १४-१३, १४-१५, १४-२१-१५-५७) में छहों ऋतुओं का वर्णन है। ऋग्वेद (१ १६४-११) में सूर्य की परिक्रमा करने के लिये पृथिवी का घूमना और उससे दिन रात एवं १२ महीनों का वनना लिखा है। वहीं (१-१६४-२ से १३ व ४८) संवत्सर का पूरा व्यौरा दिया है। जिस रेखा पर पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है उस रेखा पथ का नाम वैदिक परिभाषा में 'वैश्वानर पथ' है। अथर्ववेद (८-८-६) में वैश्वानर पथ का निर्देश करते हुए उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुवों में ६-६ महीनों के दिन और ६-६ महीनों की रात होने का संकेत मिलता है।

ऋग्वेद (५-४०-५,६,९) में सूर्य ग्रहण का वर्णन करते हुए ग्रहण की ठीक ठीक परीक्षा करने के लिए एक **तुरीय ब्रह्म** अर्थात् तुरीय यन्त्र अथवा दूरबीन का भी उल्लेख मिलता है। वहीं १-११०-१८ में **क्रान्तिवृत्त** एवं **विषुवृत्त** के **कोणवृत्त** और १०-२९-४ में पृथिवी के अक्ष के विषय में बताया है। इसी प्रकार वृष्टिकाम यज्ञों के लिये कुल मिला कर ४९ प्रकार के मरुद्गणों (मानसून) का वर्णन यजुर्वेद (१७-८० से ८५ व ३९-७) में पाया जाता है। अथर्ववेद (१८.८.१) में उन नक्षत्रों का वर्णन है जिन पर चन्द्रमा की गति का प्रभाव पड़ता है।

चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में कालज्ञान के लिए पृथिवी से संबन्ध रखने वाले सूर्य मण्डल आदि सभी नक्षत्रों, उनकी नियमित गतियों और उनके परिणामों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र में परीक्षणों पर आधारित वैदिक सचाइयों का प्रतिपादन करने वाले नक्षत्र विज्ञान का वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है। नक्षत्र विद्या को जाने बिना वेदार्थ को पूर्णतया नहीं समझा जा सकता। इसीलिये ज्योतिष को वेदाङ्ग के रूप में स्वीकार करके उसके ज्ञान की अपेक्षा की गई है। ज्योतिष में वसिष्ठमुनिकृत 'सूर्य सिद्धान्त' आर्ष रचना होने से परम प्रमाण है।

परन्तु जैसे यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, शनि आदि भी जड़ हैं। मनुष्यों का सुखी दुखी होना उनके अपने पाप-पुण्य के फलस्वरूप है। किसी से प्रसन्न होकर उसे सुख समृद्धि प्रदान करने अथवा कुपित होकर उसे हानि पहुँचाने का सामर्थ्य इन जड़ पदार्थों में नहीं है। इसलिए जहां गणित के सिद्धान्तों पर आधारित ज्योतिषशास्त्र सर्वथा सत्य एवं उपादेय है वहां फलित ज्योतिष का विस्तार घोर अन्धविश्वास पर आधारित होने के कारण बैठे बिठाये मनुष्यों को दुःखों में फंसाना है। इस सन्दर्भ में विश्व के १८६ वैज्ञानिकों तथा ज्योतिष शास्त्रियों (खगोलविदों) का वह वक्तव्य द्रष्टव्य है जो American Humanist Association की पत्रिका Humanist' के सितम्बर-अक्तूबर के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने वाले १८६ वैज्ञानिकों में विभिन्न विधाओं में नोबल पुरस्कार पाने वाले १८ वैज्ञानिक (Sir Peter Medawar, Linus Pauling, Paul Samuelson, J. Timbergen, Wassily Leontief, George Wald, Sir John Eccles etc.) सम्मिलित हैं। यह वक्तव्य जो नई दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के १४ सितंबर १९७५ के अंक में उद्धृत हुआ है, इस प्रकार है—

In ancient times people believed in the predictions and advice of astrologers because astrology was part and parcel of their magical world. They looked upon celestial objects as abodes of the Gods and, thus, intimately connected with events here on earth; they had no concept of the vast distances from the earth to the planets and

the stars. Now that these distances have been calculated, we can see how infinitismally small are the gravitational and other effects produced by the distant planets and their more distinct stars. It is simply a mistakc to imagine that the forces exerted by the stars and planets at the time of birth can in any way shape our futures. Neither is it true that the position of distant heavenly bodies makes certain days and periods more favourable to particular kinds of action or that the signs under which one was born determines one's compatability with other people. Such things can only contribute to the growth of irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challange directly and forcefully the pretentions and claims of astrological charlatans."

अर्थात् प्राचीन काल में लोग ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे, क्योंकि ज्योतिष उनके चमत्कार-जगत् का अनिवार्य अंग था। वे आकाशीय पदार्थों को देवी-देवताओं के आवास के रूप में मानते थे जिनका धरती पर होने वाली घटनाओं से घनिष्ठ संबन्ध था। पृथिवी से ग्रहों, उपग्रहों तथा नक्षत्रों की इतनी दूरी का उन्हें ज्ञान न था। अब, जबकि इन दूरियों को मापा जा चुका है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इतनी दूरी पर स्थित उपग्रहों तथा उनसे भी अधिक दूरी पर स्थित नक्षत्रों का आकर्षण संबन्धी तथा अन्य प्रभाव कितना नगण्य है। किसी व्यक्ति के जन्म के समय पड़ने वाले इन नक्षत्रों के प्रभाव की कल्पना करना भूल होगी। हमारे भविष्य के निर्धारण में इन नक्षत्रों का कोई हाथ नहीं हो सकता। यह भी सत्य नहीं है कि इन दूरस्थ आकाशीय नक्षत्रों की स्थिति विशेष के कारण किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा उसकी गतिविधियों के लिए कुछ दिवस या वार अथवा अवधि विशेष अनुकूल होते हैं। यह भी सत्य नहीं है कि जन्म के समय के कुछ लक्षण उसे दूसरे लोगों के अनुकूल बनाने में सहायक होते हैं। ऐसी बातें अज्ञान और अन्धविश्वासों को बढ़ावा देती हैं। हमारा विश्वास है कि अब समय आ गया है जब ज्योतिष के नाम पर किये जाने वाले दावों को प्रत्यक्ष रूप में बलपूर्वक चुनौती दी जाये।

विज्ञानवेत्ताओं और खगोलशास्त्रियों के इस प्रकार के उद्घोष के होते हुए भी ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों पर विश्वास करते रहना अविद्यान्धकार में भटकते रहना है। गणित पर आधारित ज्योतिष ही वास्तविक ज्योतिष है। फलित ज्योतिष मात्र धोखा है। वेदाङ्ग के रूप में गणित पर आधारित खगोलशास्त्र ही मान्य है। जड़ जगत् में उसकी गतिविधियों पर नक्षत्रादि का प्रभाव असन्दिग्ध एवं नियमित है॥ ६॥

उपाङ्ग नाम से अभिहित ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं।

मीमांसावैशेषिकन्यायसांख्ययोगवेदान्तेशादिदशोपनिषदश्चोपाङ्गानि ॥७॥

मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग और वेदान्त—ये छह उपाङ्ग हैं। इन्हें दर्शन तथा शास्त्र भी कहते हैं। इन दर्शनों के रचयिता क्रमशः जैमिनि, कणाद, गौतम, कपिल, पतञ्जलि तथा व्यास हैं। इनमें मीमांसा तथा योग पर व्यास मुनिकृत, न्याय तथा वेदान्त पर वात्स्यायनकृत, वैशेषिक पर गौतममुनिकृत तथा सांख्य पर भागुरिमुनिकृत भाष्य विशेष उल्लेखनीय हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक—ये १० उपनिषद् भी उपाङ्गों के अन्तर्गत हैं ॥७॥

अब ब्राह्मण ग्रन्थों का परिचय देते हैं—

शतपथैतरेयगोपथसामाख्यानि ब्राह्मणानि ॥८॥

शतपथ, ऐतरेय, गोपथ तथा साम—ये चार ब्राह्मण ग्रन्थ कहाते हैं।

ये सभी वेदों के व्याख्यानरूप हैं तथा क्रमशः यजुर्वेद, ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद से संबन्धित है ॥८॥

आयुर्वेदगान्धर्ववेदधनुर्वेदार्थवेदाश्चोपवेदाः ॥९॥

आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद तथा अर्थवेद—ये चार उपवेद हैं।

इनमें से कोई भी उपवेद इस समय उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके नामों तथा वाक्यों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में यत्र तत्र अवश्य मिलता है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद बताया जाता है। सुश्रुत में इस विषय में स्पष्ट लिखा है—**आयुर्वेदोनाम यदुपाङ्गमथर्व वेदस्य** अर्थात् आयुर्वेद नामक शास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग है—**तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः**—वेदज्ञ मनुष्यों का मत है कि आयुर्वेद पुण्यतम है। वस्तुतः अथर्ववेद चिकित्साविषयक ज्ञान का भाण्डार है। धनुर्वेद में राजधर्म (राजनीति), शस्त्रास्त्रविद्या तथा सैन्यसंचालन का वर्णन है। एतद्विषयक अङ्गिरा आदि रचित ग्रन्थ भी इस समय नहीं मिलते। नारदसंहितादिसहित गान्धर्ववेद संगीतशास्त्र है। अथर्ववेद में पृथिवी से लेकर परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों के गुणविज्ञान तथा क्रियाकौशलसहित शिल्पविद्या का विस्तार है। वेद को ज्ञान-विज्ञान का पर्याय मान कर इस नाम से **सूर्यविद्यावेद, मायावेद, दैवजनविद्यावेद, अङ्गिरसवेद** आदि अनेक उपवेदों की रचना हुई प्रतीत होती है। ये सभी काल के गाल में समा कर अब सर्वथा अप्राप्त हैं ॥९॥

अब वेदार्थप्रक्रिया के सन्दर्भ में आधारभूत तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो वेदाङ्गों—व्याकरण तथा निरुक्त के प्रयोग का विस्तार से विवेचन करते हैं—

शब्दप्रधानं व्याकरणम् ॥१०॥
व्याकरण शास्त्र शब्द प्रधान है ।

व्याकरण का विषय स्वर-संस्कारपूर्वक शब्द की सिद्धि करना है । दुर्गाचार्य के शब्दों में **व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम्**—व्याकरण लक्षणप्रधान शास्त्र है । लक्षण का अर्थ होता है वाचक शब्द और लक्ष्य का अर्थ होता है वाच्य । शब्द का निर्वचन व्याकरण द्वारा होता है । इसलिए व्याकरण को **शब्दनिर्वचन शास्त्र** अथवा **शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र** कहा जा सकता है । यद्यपि व्याकरण शास्त्र वेद का भाष्य या व्याख्यान नहीं है, तथापि महाभाष्य के दर्शाये व्याकरण के अध्ययन के १८ प्रयोजन स्पष्ट ही वेदार्थ को यथायथ समझने अथवा उसके यथार्थ स्वरूप का **दर्शन** करने के लिए व्याकरण शास्त्र की परमोपयोगिता का निर्देश करते हैं । महाभाष्यकार पतञ्जलि की स्पष्ट घोषणा है—**रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् ।** इसका अभिप्राय है कि व्याकरणशास्त्र के बिना वेद की रक्षा सम्भव नहीं । शब्द का स्थूल रूप व्याकरण का विषय है । यास्क और पतञ्जलि दोनों के मत में समस्त वैदिक शब्द यौगिक होने से प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध से अपना अर्थ बताते हैं। और प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध का ज्ञान व्याकरण-शास्त्र के बिना कैसे हो सकता है ? अतः वेदार्थ जानने में व्याकरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं मुख्य साधन है ।

भगवान् पाणिनि का व्याकरण एक गम्भीर वैदिक दर्शन है । वह अपने धातुओं के अर्थ निर्देश से ही समझा देते हैं कि कोई वस्तु न उत्पन्न होती है और न कभी उसका नाश होता है । **जनी प्रादुर्भावे, णश् अदर्शने, अदर्शनं लोपः** जैसे सूत्रों के द्वारा वह शब्दों के निर्वचन से ही दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं । शाकल्य, शाकटायनादि प्राचीन वैयाकरणों के पश्चात् अगाधमति पाणिनि ने **केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानाञ्च** महाभाष्य के इस वचन के अनुसार सबका समन्वय करके अष्टाध्यायी के रूप में एक सर्वाङ्गपूर्ण शास्त्र की रचना कर डाली । इसी के द्वारा उन्होंने प्रातिशाख्य ग्रन्थों की व्याकरण विषयक आवश्यकता को भी पूर्ण कर दिया । शेष उच्चारणादि की प्रक्रिया के लिये उनकी उपयोगिता आज भी है और आगे भी रहेगी । अष्टाध्यायी की महत्ता का बखान करते हुए महाभाष्यकार ने कहा—**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम् ।** अर्थात् पाणिनीय शास्त्र सब वेदों का पारिषद् ग्रन्थ है । अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्य कोई व्याकरण ग्रन्थ संहिता भेद या शाखाभेद को लेकर शायद ही बना हो ।

अष्टाध्यायी के सूत्र गद्यरूप हैं । किसी भी गद्य ग्रन्थ का परिणाम दर्शाने के लिये प्राचीन परिपाटी यह है कि उस ग्रन्थ के अक्षरों की गिनती करके अनुष्टुप्

छन्द की अक्षर संख्या ३२ से भाग देने पर जो भागफल उपलब्ध होता है वह उस ग्रन्थ का श्लोकरूप में परिमाण माना जाता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के एक सहस्र श्लोक और तदनुसार ३२००० अक्षर जानने चाहियें ॥१०॥

व्याकरण के पश्चात् निरुक्त का प्रयोजन बताते हैं—

अर्थप्रधानं निरुक्तम् ॥११॥

निरुक्त अर्थप्रधान है।

अर्थ के आधार पर निर्वचन विद्या प्रतिपादक शास्त्र निरुक्त है। अतः अर्थ को लक्ष्य में रख कर निर्वचन करना निरुक्त का काम है। अवयव-प्रत्यवयव के विभागपूर्वक स्वर-वर्ण-मात्रादिक के भेद से अर्थ के निर्वचन के लिये निरुक्तशास्त्र के निर्वचन हैं। निरुक्त के विषय में काशिका (६-२-१०६) में कहा है—**वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥** व्याकरण के शब्दप्रधान और निरुक्त के अर्थप्रधान होने के भेद को न समझने के कारण ही आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके मानसपुत्र भारतीय (सिद्धेश्वर वर्मा प्रभृति) यास्क के निर्वचनों को अशुद्ध, व्यर्थ, शिथिल तथा मूर्खतापूर्ण (Senseless, unsound, loose, wild, superfluous) तक कहने में संकोच नहीं करते। वस्तुतः निरुक्त शास्त्र व्याकरण शास्त्र का पूरक तथा अपने स्वतन्त्र प्रयोजन वेदार्थपरिज्ञान का साधक है।

प्रथम अध्याय में यौगिकवाद की स्थापना करने के पश्चात् द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निर्वचन की रीति बताई गई है। तदनन्तर निघण्टु के प्रारंभ से गौ शब्द से लेकर देवपत्न्यन्त तक क्रमशः नैघण्टुक, नैगम तथा दैवत काण्डों द्वारा सब शब्दसमाम्नायों का निर्वचन दिखाया है। यह निरुक्त का प्रधान विषय है, यद्यपि बीच बीच में प्रसंगतः अन्य बातों का भी उल्लेख है। सब निर्वचन देकर उनका प्रयोग कहाँ कहाँ हुआ है यह दिखाने के लिये वेद का प्रमाण देते गये हैं। तत्तत् निर्वचन को तत्तत् वेदमन्त्र के अर्थ की योजना द्वारा पुष्ट किया गया है, जिससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यास्क व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ दर्शाने के लिये मन्त्रों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं। दैवतकाण्ड में आचार्य ने देवतावाद की स्थापना की है। परन्तु निर्वचन का काम साथ साथ वहाँ भी करते गये हैं। इस प्रकार यास्क यौगिक प्रक्रिया के परम उपासक महापुरुष हैं ॥११॥

अब निरुक्त तथा निघण्टु के रचयिता के विषय में कथन करते हैं—

यास्कप्रणीतं निरुक्तं निघण्टुश्च ॥१२॥

निरुक्त और निघण्टु दोनों के रचयिता यास्क हैं।

वेद परिज्ञानार्थ निरुक्त एक अनिवार्य वेदांग है। निरुक्त, निघण्टु का भाष्य होता है। यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त हो चुके हैं—यह निर्विवाद है। उनमें से

१२ निरुक्तकारों को यास्क ने अपने ग्रन्थ में यथास्थान उद्धृत किया है। वे हैं—औपमन्यव, गार्ग्य, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, आग्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटीकि, गालव, कात्थक्य, क्रौष्टुकि तथा स्थौलाष्ठीवि। शाकपूणि को यास्क ने २० बार स्मरण किया है। बृहद्देवता में भी १० बार उसका उल्लेख मिलता है। इस सबसे ज्ञात होता है कि यास्क ने अपने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए निघण्टु ग्रन्थ की रचना की।

यास्कमुनिकृत वर्त्तमान निरुक्त जिस निघण्टु का भाष्य है वह सम्पूर्ण उपलब्ध है। यह वैदिक कोश अथवा निघण्टु स्वयं भगवान् यास्क की ही रचना है, यह निरुक्त के पहले वाक्य से ही झलकता है। वह वाक्य है—**समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः।** इसका सीधा अर्थ है—(समाम्नायः) वैदिक शब्दसमूह (समाम्नातः) संग्रह किया जा चुका है। (स) वह (व्याख्यातव्यः) व्याख्या किया जाना चाहिये। **म्ना** धातु का प्रयोग **कथन** अर्थ में प्रायः होता है। जैसे **समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च** (माघ २-१०) अर्थात् साधुजनों ने बढ़ते हुए रोग और शत्रु को समान कहा है। इस प्रकार **समाम्नाय** का अर्थ हुआ—सम्+आ+म्ना=किन्हीं विशेष शब्दों का किसी विशेष क्रम से संग्रह। संग्रह अर्थ में समाम्नाय शब्द का अर्थ अन्यत्र भी मिलता है, जैसे—**अघोरामः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कृकवाकुः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते** (निरुक्त १२-१३) तथा **सोऽयमक्षरसमाम्नायः** (महाभाष्य १.१.२ आह्निक के अन्त में)।

यास्काचार्य का कथन है कि मैं वेदाध्ययनोपयोगी शब्दसमूह का संग्रह कर चुका हूँ। पर, यह शब्द संग्रह पर्यायसंग्रह नहीं है, उसकी व्याख्या अपेक्षित है। यदि यह निघण्टु यास्क से पूर्व विद्यमान होता तो आचार्य लिखते—**समाम्नायो व्याख्यायते** अथवा **समाम्नायो व्याख्यातव्यः।** निघण्टु को पहले से विद्यमान माना जाये तो बीच के **समाम्नातः** तथा **स** दोनों पद सर्वथा निरर्थक हो जाते है। **समाम्नातः** का सार्थक्य उसके आसन्नभूत में प्रणीत होने में है। यास्कमुनि ने इस पद का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया है जैसे कोई सामान्य व्यवहार में कहे—**लो भाई, इतना काम तो हो गया, अब यह करना रह गया है।** स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता के रूप में यास्क को ही माना है। प्रस्थानभेद के कर्त्ता महापण्डित मधुसूदन सरस्वती ने भी निघण्टु को यास्कमुनिविरचित ही कहा है ॥१२॥

वेदार्थप्रक्रिया में निरुक्त के महत्त्व, उसकी उपादेयता तथा अनिवार्यता का विवेचन करते हैं—

नेदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययः ॥१३॥

इस (निरुक्त) के बिना मन्त्रार्थ की प्रतीति अथवा परिज्ञान नहीं होता।

स्वर-संस्कार पूर्वक शब्द की सिद्धि करना व्याकरण का विषय है। परन्तु बिना अर्थ जाने शब्द की सिद्धि नहीं की जा सकती। निरुक्त शब्द निर्वचन द्वारा शब्दार्थ का बोध कराता है और व्याकरण उसी अर्थ के आधार पर शब्द की ठीक ठीक सिद्धि करता है। फिर भी, केवल व्याकरण की प्रकृति-प्रत्यय की योजना मात्र से मन्त्रों का ठीक ठीक अभिप्राय नहीं जाना जाता। निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन वैदिक शब्दों के निश्चित अर्थों का ज्ञान कराना है। वेद के शब्द और उनके अर्थ सृष्टि के आदि से चले आ रहे हैं। उस अर्थविद्या को निरुक्तशास्त्र ने यथावत् बनाये रखा है। अर्थविशेष की उपपत्ति दर्शाना निरुक्त का काम है। उसके बिना व्याकरण अधूरा है।

शब्दों की आनुपूर्वी समान होने पर भी उनके अर्थों में बड़ा अन्तर होता है। इसलिये उनके विभिन्न अर्थों के मूल कारण को व्यक्त करने के लिये निरुक्तशास्त्र में एक शब्द के अनेक धातुओं के निर्देश द्वारा अर्थों का उपपादन किया जाता है। निरुक्तकार ने अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति वहीं दर्शाई है, जहाँ उन अर्थों के मूल कारण पृथक् पृथक् थे। कारणों को बताने के लिये यास्क व्युत्पत्त्यन्तर न दिखाता तो और क्या करता? इस बात को स्पष्ट करने के लिये हम हिन्दी के दो शब्दों को प्रस्तुत करते हैं—काम व घण्टी। हिन्दी में 'काम' शब्द के दो अर्थ हैं—कामना =विषयवासना और कर्म=क्रिया। इन दोनों अर्थों का मूल कारण बताने के लिये **कमु कान्तौ** और **डुकृञ् करणे** इन दो धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शाना आवश्यक होगा, क्योंकि हिन्दी के 'काम' शब्द के दो मूल हैं। संस्कृत का एक **काम** शब्द बिना किसी परिवर्तन के हिन्दी में पहुँच गया और दूसरा संस्कृत का ही **कर्म** शब्द प्राकृत में **कम्म** होकर **काम** रूप में परिवर्तित हो गया। प्राकृत का **कम्म** पंजाबी में भी ज्यों का त्यों प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी **निकम्मा** शब्द में वह बना हुआ है। **घण्टी** शब्द के भी दो अर्थ हैं--छोटी लुटिया तथा शब्द (ध्वनि) करने का साधन। इन दोनों के मूल भी पृथक्पृथक् हैं। **छोटी लुटिया** अर्थ का वाचक **घण्टी** शब्द संस्कृत के घट शब्द का अल्पार्थवाची रूप है और घट् धातु से निष्पन्न है। शब्द (ध्वनि) का साधनरूप **घण्टी** शब्द, शब्दार्थक **घटि** धातु से निष्पन्न है। इस प्रकार समान आनुपूर्वी वाले शब्द के विभिन्न अर्थ होने पर अनेक धातुओं से निर्वचन करना अवश्यंभावी हो जाता है ॥१३॥

पदविभागो वा ॥१४॥

(निरुक्त के बिना) पद-विभाग नहीं होता।

पदविभाग वेदविद्या का आवश्यक अंग है। यह पदविभाग अथवा पदपाठ मन्त्रार्थ के अनुकूल होता है। जैसे—ऋग्वेद (१-१०५-१८) का मन्त्र है—

अरुणो मासकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि ।
उज्जीहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी ।

निरुक्त (५-२१) में इसकी व्याख्या में कहा है—**मासकृत् मासानां चाऽर्ध-मासानां च कर्त्ता भवति चन्द्रमाः ।** इस प्रकार यहाँ यास्क ने **मासकृत्** की व्युत्पत्ति **मासं करोतीति मासकृत्** करके उपपदसमास द्वारा एक पद माना है । **गति-कारकोपपदात् कृत्** (अ० ६-२-१३९) सूत्र से उत्तरपादान्तोदात्त स्वर भी ठीक है ।

उधर शाकल्य ने अपने पदपाठ में **मासकृत्** को दो पद असमस्त **मा सकृत्** ऐसा माना है ।

ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में लिखा है—

(मा-सकृत्) मामेकवारम् । अर्थैकपद्यम्—मासानां चार्धमासादीनाम् । अत्र मासकृदित्येतत् पदं निरुक्तकारप्रामाण्यादनुमीयते । शाकल्यस्तु (मा-सकृत्) इति पदद्वयमभिजानीते ।।

आचार्य स्कन्दस्वामी ने भी अपने निरुक्तभाष्य में महर्षि दयानन्द के कथन से मिलती जुलती बात कही है । इससे सिद्ध है कि अर्थ को देखते हुए दोनों प्रकार का व्याख्यान हो सकता है ।

ऋग्वेद (५-३९-१) के मन्त्र—**यदिन्द्र चित्तं मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः** पर निरुक्त (४-४) में लिखा है—

यदिन्द्र चित्तं चायनीयं, मेहनीयं धनमस्ति । यन्म इह नास्तीति वा । त्रीणि मध्यमानि पदानि ।।

यहां पर यास्क ने स्वयं **मेहना** पद को एक पद और तीन पद दोनों ही माना है । **मेहनीयं** अर्थ लिख कर एक पद दर्शाया और **म इह नास्ति** लिखकर तीन भी दर्शा दिये । यह ज्ञातव्य है कि शाकल्य ने इसे एक पद माना है जबकि गार्ग्य ने त्रिपद ।

ऋग्वेद में दो मन्त्र इस प्रकार हैं—

मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरारिशन्ताम् ।
पीवस्वतीर्जीवधन्या पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृड ।।१०-१६९-१।।
योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमा निषीद स्वानो नार्वा ।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान् दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ।। १-१०४-१।।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में यद्यपि समान रूप से **अवसाय** पद आता है, तथापि निरुक्त के अनुशीलन से एक स्थान पर **अवसाय** पदच्छेद है तो दूसरे पर **अव+साय ।** प्रथम मन्त्र में **अवस** में गत्यर्थक **अव** धातु से **असु** प्रत्यय है । इसलिये उसका पदच्छेद नहीं करते । यह असमस्त एक ही पद है । **अवस**=जो मार्ग में भोजनार्थ

प्राप्त किया जाये। गाय के दूध से बने पदार्थ ही मुख्यतया पाथेय समझे जाते हैं। दूसरे मन्त्र में **अव** उपसर्गपूर्वक **षो** धातु विमोचन अर्थ में प्रयुक्त है। **अवसाय** में गति—समास होने से यहां इसका पदच्छेद **अवसाय** किया जाता है।

स्कन्दस्वामी के मत में **तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः**—अवग्रह को निश्चित नहीं समझ लेना चाहिये। वह नियत नहीं, ऐच्छिक है। स्वामी दयानन्द की भी यही धारणा है। **पदविभागोऽर्थज्ञानाधीनः** (स्कन्द)—अन्ततः पदपाठ की रचना अर्थावबोध पर निर्भर है जो निरुक्तशास्त्र से होता है। अतः निरुक्तशास्त्र के बिना पद-विभाग संभव नहीं ॥१४॥

अर्थाधीना पादव्यवस्था ॥१५॥

पादव्यवस्था अर्थ के अधीन है।

प्रायोऽर्थो वृत्तमिति पादज्ञानस्य हेतवः—ऋक् प्रातिशाख्य (१७-२५) के अनुसार पाठ, अर्थ और वृत्त के आधार पर पादव्यवस्था होती है। **तेषामृग् यत्रार्थ-वशेन पादव्यवस्था**—मीमांसा (२-१-३५) के इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शबरस्वामी तथा तन्त्रवार्त्तिककार कुमारिलभट्ट दोनों ने अर्थ के आधार पर पादव्यवस्था को माना है। शम्भुभट्ट आदि मीमांसकों ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार किया है। अर्थ के अधीन पादव्यवस्था का सिद्धान्त मान लेने पर तदनुसार ही छन्दों की व्यवस्था में भी अन्तर होना अवश्यंभावी है। इस प्रकार छन्द का निर्धारण पादव्यवस्था पर और पादव्यवस्था का अर्थज्ञान पर आधारित है। इसे स्पष्ट करने के लिये ऋग्वेद (६-१६-१) का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है—

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥

ऋक् सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का छन्द **वर्धमाना गायत्री** (६+७+८) माना है। अक्षरों की यह गणना तब बनती है जब **त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः** तथा **देवेभिर्मानुषे जने** इस प्रकार पादव्यवस्था की जाये। परन्तु यदि **त्वमग्ने यज्ञानां होता** इतने को एक पाद माना जाये तो वह ८ अक्षर का पाद बन कर आगे **विश्वेषां हितः** ५ अक्षर का पाद रह जाता है। ऐसा होने पर वह '**वर्धमाना गायत्री** न रह कर **पिपीलिकामध्या** (८+५+८) छन्द बन जाता है। अब **होता** पद को पूर्वपाद में माना जाये या उत्तरपाद में यह **वाक्यं हि वक्तुरधीनम्** (महाभाष्य १-१-५६) इस सिद्धान्त के अनुसार अभीष्ट अर्थ पर निर्भर करता है। **अर्थवशेन पादव्यवस्था** अथवा **अर्थाधीना पादव्यवस्था** का यही अभिप्राय है ॥१५॥

इसके पश्चात् निर्वचन विषयक कुछ विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन करते हैं—

निर्वचनमर्थान्वाख्यानम् ॥१६॥

निर्वचन (शब्द) का मुख्यार्थ या पर्याय अन्वाख्यान है। यास्क के सिद्धान्त में अर्थ

की प्रधानता है। इसलिये जहां प्रकृति-प्रत्यय का बोध न होने से व्याकरण से अर्थ सिद्ध न होता हो वहाँ **अर्थनित्यः परीक्षेत** (निरुक्त २-१) के अनुसार अर्थ को मुख्य मानकर अर्थ की समानता से अर्थ कर लेना चाहिए। अर्थ की प्रधानता के कारण ही यास्क मन्त्रों का अर्थ करने में व्यत्यय को स्वीकार करते हैं। **यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्** (नि० २-१) अर्थात् अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्त्तन अभीष्ट है। **आशुशुक्षणिः** (नि० ६-१) पद को प्रथमान्त होते हुए भी यास्क ने **पंचम्यर्थे वा प्रथमा** यह कहकर सिद्धान्त रूप में ही नहीं, व्यवहार में भी व्यत्यय को स्वीकार किया है।

जिस विभक्ति या वचन में जो शब्द जिस रूप में आया है उस शब्द का उसके अपने वर्त्तमान रूप में अर्थ होगा ही नहीं, यह बात नहीं। व्यत्यय की स्थिति यह है कि जहाँ लोक में कोई शब्द अपनी विभक्ति या वचन के अनुसार अपने नियत अर्थ में प्रयुक्त होता है वहाँ वेद में अर्थ की प्रधानता को लक्ष्य में रखते हुए जो विभक्ति जिस में सुसंगत तथा सुसंबद्ध प्रतीत होती हो उस अर्थ को वेद के शब्दों में वर्त्तमान विभक्ति में ही विद्यमान समझ लेना चाहिये। तात्पर्य यह है कि व्यत्यय तभी अपेक्षित होता है जब वेद के ठीक ठीक अर्थ के मार्ग में वर्त्तमान विभक्ति या वचन की बाधा उपस्थित हो।

अर्थ की प्रधानता को लेकर निर्वचन होता है—इस सन्दर्भ में निरुक्त के मूर्द्धन्य टीकाकार दुर्गाचार्य के भाष्य से निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

क. **एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने सति अर्थवशेन लोपागमौ विपरिणामश्च शब्दानां दृष्टः, किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव।** (नि० १-१)

ख. **अर्थनित्य इत्युक्तेऽर्थप्रधान इति गम्यते। अर्थप्राधान्येनानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत।** (नि० २-१)।

ग. **प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते।** (नि० ५-१)

इनमें अर्थानुसार निर्वचन की प्रधानता, निरुक्त के अर्थप्रधान होने तथा अर्थ के अधीन लोपागमस्वरसंस्कारादि होने का प्रतिपादन किया है।

व्यत्यय के सिद्धान्त को स्कन्द और दुर्ग दोनों ने अपनी टीकाओं में बराबर मान्यता दी है। **व्यत्ययेनैते चतुर्थीद्वितीयार्थयोर्द्वितीयाचतुर्थ्यौ** (नि० ४-१७) तथा **द्वितीयार्थे षष्ठी** (नि० ४-२५) आदि स्कन्द के उदाहरण हैं। दुर्ग ने **चतुर्थ्यर्थे द्वितीया** (नि० २-१ व २-१२) को माना है। अपने ऋग्वेद भाष्य में स्कन्द ने अनेकत्र व्यत्यय से काम लिया है। उद्‌गीथ का भाष्य बहुत कुछ स्कन्द जैसा है। उसने भी ऋग्वेद (१०-८२-२) **प्रथमार्थे वा द्वितीया** व्यत्यय माना है। उव्वट, महीधरादि को भी कई स्थानों पर व्यत्यय से काम लेना पड़ा है। यास्क के वेदार्थ के ये सिद्धान्त दयानन्द भाष्य में सम्पूर्णता से मिलते हैं॥१६॥

नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदाच्चत्वारि पदजातानि ॥१७॥
आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात भेद से शब्द समूह के चार विभाग हैं। इनमें से आख्यात का लक्षण करते हैं—

क्रियावाचकमाख्यातम् ॥१७॥
क्रियावाचक (क्रिया-प्रधान) पद **आख्यात** कहाते हैं।

आख्यात पदों में सर्वत्र क्रिया की प्रधानता होती है। इसी से आख्यात को भावप्रधान कहते हैं। यह भाव-प्रधानता ही उसका लक्षण या पहचान है। **देवदत्तः किं करोति** इस प्रकार क्रिया के प्रश्न में आख्यात से ही उत्तर दिया जाता है— **पचति, पठति** इत्यादि। अतः आख्यात का लक्षण क्रिया प्रधान होना ही है। भाव, क्रिया और कर्म समानार्थक हैं। किसी प्राचीन आचार्य ने आख्यात का लक्षण इस प्रकार किया है—

> **क्रियाप्रधानमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते।**
> **त्रीनत्र पुरुषान्विद्यात्कालतस्तु विशिष्यते ॥**

अर्थात् आख्यात भावप्रधान होते हैं। वे लिङ्ग से विशिष्ट नहीं होते— लिङ्ग का उनमें कोई चिह्न नहीं होता। परन्तु उनमें तीन पुरुषों—प्रथम, मध्यम व उत्तम तथा तीन कालों—भूत, भविष्यत् व वर्त्तमान की विशेषता अवश्य देखी जाती है यह विलक्षणता भी आख्यात के क्रियाप्रधान होने में कारण है। इन आख्यात पदों का यह स्वभाव है कि वे जब से क्रिया का आरम्भ होता है तब से लेकर उसकी समाप्ति पर्यन्त अवस्था को प्रकट करते हैं अर्थात् आख्यात पद क्रिया की साम्यावस्था को प्रकट करते हैं, सिद्धावस्था को नहीं। इस आशय को एक आचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> **क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव।**
> **क्रियाभिनिवृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः ॥**

जो अनेक क्रियाओं में आश्रित रहता है, जिसमें पूर्व—अपर जैसे भाग प्रतीत तो होते हैं परन्तु वास्तव में एक ही होते हैं, और जो अनेक क्रियाओं की सिद्धि के अधीन सिद्ध होता है वह आख्यात शब्द से अभिहित होता है ॥१७॥

आख्यात के पश्चात् **नाम** का लक्षण करते हैं—

द्रव्यवाचकानि नामानि ॥१८॥
द्रव्यवाचक (द्रव्यप्रधान) पद नाम होते हैं।

लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यं सत्त्वमित्यभिधीयते इस वचन के अनुसार लिङ्ग तथा संख्या से युक्त द्रव्य ही सत्त्व कहाता है। आचार्यों ने नाम का लक्षण इस प्रकार किया है—

शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥

अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण करने से द्रव्य की प्रतीति हो, जिसमें भिन्न भिन्न अर्थों में आठ विभक्तियां प्रयुक्त होती हों और जिसमें वचन तथा लिङ्ग का भेद हो उसे नाम कहते हैं ॥१८॥

आख्यात की भांति नाम से भी कभी कभी क्रिया का बोध होता है, क्योंकि—

कृदभिहितो भावोऽपि द्रव्यवत् ॥१९॥

कृत् प्रत्यय से कही हुई (कृत् प्रत्ययान्त) क्रिया द्रव्य के समान होती है ।

जिस प्रकार आख्यात से क्रिया कही जाती है उसी प्रकार नाम से भी कहीं कहीं क्रिया का कथन होता है । ये नाम कृदन्त होते हैं जिनमें पूर्व अपर सब क्रियाओं को एकरूप बना कर मूर्त्तरूप में कहा जाता है । और इसी से उन भावों को भी लिङ्ग तथा संख्या से युक्त नाम-शब्दों की भांति प्रयुक्त किया जाता है, जैसे व्रज्या=गति, पक्तिः=पाक इत्यादि । एक आचार्य का कथन है—

क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात् ।
संख्याविभक्तिव्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः ॥

अर्थात् अनेक क्रियाओं की सिद्धि के अधीन उत्पन्न हुआ भाव जब कृदन्त शब्द से उक्त होता है, तब संख्या और विभक्ति के परिवर्त्तन तथा लिङ्ग से युक्त द्रव्य के समान उपलक्षित होता है ॥१९॥

जहां नाम और आख्यात दोनों एक साथ होते हैं वहाँ भाव वा क्रिया की प्रधानता होती है । इस सिद्धान्त का विवेचन अगले सूत्र में किया है—

साध्यत्वादाख्यातस्य प्राधान्यम् ॥२०॥

साध्य होने से आख्यात प्रधान होता है ।

वेद तथा लोक में जब काम निकलता है तो नाम और आख्यात दोनों के मेल से ही निकलता है । व्यवहार-क्षेत्र में एक के बिना दूसरा निरर्थक होता है । अतः दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है । व्यवहार में केवल **अधीते** कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार केवल **ब्रह्मचारी** कहने से भी कुछ आशय नहीं निकलता । **ब्रह्मचारी अधीते** इस प्रकार द्रव्य और आख्यात दोनों के एक साथ प्रयुक्त होने पर ही । उनकी सार्थकता है । परन्तु क्रिया साध्य होती हैं

और कारकरूप द्रव्य साधन। साध्य का स्थान साधन से ऊपर होता है। अतः साध्य होने से आख्यात की प्रधानता और द्रव्य की गौणता है ॥२०॥

आख्यात के प्रधान होने में एक अन्य हेतु देते हैं—

नाम्नामाख्यातजत्वाच्च ॥२१॥

और नामों के आख्यातज होने से।

यतः सब नाम आख्यातज हैं, अतः वाक्य में भी आख्यात की प्रधानता मानी गई है ॥२१॥

अगले कतिपय सूत्रों में अनेक हेतु देकर नामों का आख्यातज होना सिद्ध किया गया है—

नामान्याख्यातजानि नैरुक्तसमयत्वात् ॥२२॥

सब नाम आख्यातज हैं, निरुक्त के सिद्धान्त से।

आदिकाल में संस्कृत के समस्त नामपद यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। कालान्तर में उनके अर्थविशेष में सीमित हो जाने पर वे रूढ़ होने लगे। यतः वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक-धातु के अर्थों के अनुकूल-होगा। प्रकरणादि से उनका अर्थ विशेष में पर्यवसान होगा। वेदार्थ की जितनी भी प्रक्रियायें हैं उनमें ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़ कर अन्य सभी प्रक्रियाओं में वैदिक नामों=प्रातिपदिकों को धातुज अथवा यौगिक माना गया है।

यौगिकवाद में जो कुछ भी प्राचीन और अर्वाचीन विचार उपस्थित किये जाते हैं उनका मुख्य स्रोत निरुक्त है। निरुक्त की रचना ही इस वाद के प्रचार एवं प्रसार के लिये हुई। निरुक्त नाम है निर्वचन का। निर्वचन प्रकृति-प्रत्यय की योजना का नाम है जो अर्थ को लक्ष्य में रख कर की गई हो। यास्क ने अपनी भूमिका में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—इन चारों प्रकार के पदों को बता कर कहा—**तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च**। अर्थात् जितने भी नाम-वाची पद हैं सब आख्यातज=धातुज हैं। जब सब नाम धातुज हैं तो जिस धातु से उनकी उत्पत्ति हुई है उस धातु के अर्थ को तो वे अवश्य कहेंगे। प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तियां इसीलिये की गई हैं कि उन शब्दों की निरुक्तियों को लेकर तत्तत् शब्दों का अर्थ होता है, क्योंकि अर्थ को लक्ष्य में रखकर ही ये निर्वचन किये गये हैं ॥२२॥

महाभाष्ये प्रतिपादनात् ॥२३॥

महाभाष्य में प्रतिपादित होने से।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लौकिक तथा वैदिक शब्दों का भेद दर्शा कर यास्क के सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए कहा—**नाम च धातुजमाह निरुक्ते**

व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । नैगमरूढिभवं हि सुसाधु (म० भा० ३-३-१) अर्थात् सब नाम धातुज हैं, वेद के शब्द रूढ़ नहीं होते। अपनी मान्यता के अनुरूप ही महाभाष्यकार ने **भोगैः** का अर्थ **शरीरैः**, **सप्तसिन्धवः** का **सप्तविभक्तयः** तथा **सखायः** का **वैयाकरणाः** किया हैं। यह यौगिकवाद के बिना नहीं हो सकता। महामुनि पतञ्जलि ने तो यहां तक कह दिया—**प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या** अर्थात् जहां प्रकृति प्रत्यय का बोध न हो वहाँ प्रकृति को देखकर प्रत्यय की और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की ऊहा कर लेनी चाहिये। ऐसा कह कर उन्होंने यास्क के **अर्थनित्यः परीक्षेत**—अर्थ की प्रधानता विषयक सिद्धान्त पर अपनी मुहर लगा दी है ॥२३॥

ब्राह्मणेषु निर्वचनापत्तेः ॥२४॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन उपलब्ध होने से।

स्वयं निरुक्त ब्राह्मण ग्रन्थों का पूरक सा है। जहां कहीं संभव होता है वहाँ यास्क अपने अर्थों की पुष्टि में **इति विज्ञायते**, **हैति ब्राह्मणम्** इत्यादि कह कर ब्राह्मण वचनों को उद्धृत करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ तो निर्वचनों से भरे पड़े हैं। वे तो हर समय निरुक्ति द्वारा शब्दों के अर्थ समझने-समझाने की बात करते हैं। **यज्ञो वै विष्णुः, राष्ट्रं वा अश्वमेधः, सत्यमाज्यम्, यज्ञो वै वसुः, अश्विनाविमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्, प्राणो वै वसिष्ठः, वीर्यं वा अश्वः, मनो वै भरद्वाजः, चक्षुर्वै जमदग्निः** इत्यादि निर्वचनों की ब्राह्मण ग्रन्थों में भरमार है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पद के निर्वचन का स्पष्टीकरण भी करते हैं। जैसे—**श्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः** ॥२४॥

वेदेष्वपि तद्दर्शनात् ॥२५॥

वेदों में भी वैसा देखे जाने से।

सर्वं वेदात् प्रसिध्यति—समस्त विद्याओं का आदिमूल होने से वेद में निर्वचन शास्त्र का भी मूल उपलब्ध है। वस्तुतः वेद से ही उसमें आये शब्दों का यौगिक होना स्वतः सिद्ध है। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद का पहला मन्त्र है—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥

इस मन्त्र का अभिधेय—देवता **अग्नि** है। वही ईडे (स्तुति करता हूँ) क्रिया का कर्म है। निरुक्तकार के मत में मुख्यत्वेन एक परमात्मा की ही स्तुति की जाती है। अतः प्रकरणवश यहाँ **अग्नि** शब्द परमात्मा का ही वाचक है। बिना यौगिक प्रक्रिया के अग्नि शब्द परमात्मवाची सिद्ध नहीं हो सकता। विशेष्य-विशेषण भाव से पुरोहित, ऋत्विक्, होता, देव और रत्नधातमम् ये सब अग्नि के

विशेषण हैं। यह तभी हो सकता है जब ये यौगिक हों। इस प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही यौगिक प्रक्रिया के बीज विद्यमान हैं।

ऋग्वेद (१०-६०-९) में ही कहा है—**यथेमां पृथिवीं महीं दाधार।** यहाँ पृथिवी और मही पर्यायवाची हैं। विशेष्य भाव से यौगिक प्रक्रिया के आधार पर, **प्रथनशील** (विस्तृत) **भूमि अथवा महान् गुणों वाली पृथिवी** ऐसा अर्थ कर लेने पर ही मन्त्र की यथार्थ संगति बैठ सकती है। यही नियम **यज्ञमध्वरम्** (ऋ० ७-९२-१३) **गावो न धेनवः** (ऋ० ६-४५-२८), **उर्वीं पृथिवीम्** (ऋ० १-९२-१३), **भूमिं पृथिवीम्** (अ० १२-१-७), **तोकं च तनयम्** (ऋ० १-९१-१३) आदि में आये पर्याय पदों का अर्थ करने में लगेगा। ऋग्वेद १-१-४ के भाष्य में स्कन्द ने स्पष्ट लिखा है—**अध्वरशब्दोऽयं यज्ञमित्यनेन पौनरुक्त्यान्न यज्ञनाम किं तर्हि विशेषणम्।** इसी प्रकार **'एकत्र द्विरावृत्तेः'**—एक ही मन्त्र में एक ही शब्द के एकाधिकबार आने पर एक विशेषण होगा, दूसरा विशेष्य। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के ये दो मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ १-१६४-४६॥
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्रम् ॥१-८९-१०॥

प्रथम मन्त्र में एक स्थान पर **अग्नि** विशेष्य है, दूसरे स्थान पर अग्नि तथा अन्य पद उसके विशेषण हैं। दूसरे मन्त्र में एक **अदिति** विशेष्य है, शेष सब गुण-वाची अर्थात् विशेषण हैं। वेद में अनेकत्र **अदिति, अङ्गिराः, कण्व, इन्द्र** आदि शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों रूप में आते हैं। विशेष्य-विशेषण भाव का यह स्वरूप यौगिकवाद के बिना उपपन्न नहीं हो सकता। प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा, धात्वर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति किये बिना विशेषण नहीं बन सकता। यौगिकवाद की ही यह महिमा है जो वेद में आये इन अथवा इस प्रकार अन्य शब्दों को पौनरुक्त्य तथा वैयर्थ्य से बचाता है और वेदत्व में प्रमादादि दोष नहीं आने देता।

उपर्युक्त दूसरे मन्त्र में **स पिता स पुत्रः** कहा है। भला एक ही व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व दोनों कैसे रह सकते हैं? वही पिता और वही पुत्र कैसे हो सकता है? यौगिकवाद में ही इस समस्या का समाधान है। वस्तुतः **पिता** का अर्थ पालने वाला—**पिता पाता वा पालयिता वा** (निरुक्त ४-२१) तथा पुत्र का अर्थ है पवित्र करने वाला—**पुत्रः पुरु त्रायते······पुन्नरकं ततस्त्रायते** (निरुक्त २-११)। पालन करने और रक्षा करने वाला एक ही व्यक्ति हो सकता है।

ऋग्वेद के इस मन्त्र (८-५-३१) में स्वयं वेद ने निर्वचन करके दिखाया है—

आ हुवेथे पराकात् पूर्वीरश्नावन्तावश्विना।

यहाँ पर **अश्विनौ** शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए कहा है कि **अश्नन्तौ** होने के कारण **अश्विनौ** कहाते हैं । **यद् व्यश्नुवाते सर्वम्**— सब में व्याप्त होने वालों (द्यावापृथिवी वा अहोरात्र) को **अश्विनौ कहते हैं** । सायण भाष्य में भी कहा है— **यद्वा अश्नवन्तौ व्याप्नुवन्तौ, अशू व्याप्तौ, अस्माद् व्यत्ययेन परस्मैपदं च ।**

अन्यत्र (ऋ० ८-९६-४) **च्यवनमच्युतानाम्** (अच्युतों में च्यवन=अगतिशीलों में गतिशील) ऐसा मूलमन्त्र में कह कर **च्यवन** शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाई गई है । इस व्युत्पत्ति को देखने के बाद **च्यवन** शब्द से किसी व्यक्ति विशेष का ग्रहण कभी नहीं किया जा सकता ॥२५॥

आप्तप्रामाण्याच्च ॥२६॥

और प्राप्त (विद्वान्) पुरुषों का प्रमाण होने से ।

१. तन्त्रवार्तिक में मीमांसा (१-३-१०) का भाष्य करते हुए कुमारिलभट्ट कहते हैं—

> **अनन्तेषु हि देशेषु कः सिद्धः ववेति गम्यताम् ।**
> **निगमादिवशाच्चाद्य धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः ॥** पृष्ठ २२५

वेदार्थ में धातु से अर्थ की योजना बनानी चाहिये ।

२. शबरस्वामी का कथन है— **शमयतीति शमिता, यौगिक एष शब्दः प्रकृतेष्वपि कल्पते ।** मी० भा० ३-७-२९

३. निरुक्त के टीकाकार स्कन्द ने (नि० टी० भा १, पृष्ठ ९२) लिखा—

एवमेतत् सर्वनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम् । तत् किमर्थम् ? उच्यते— अर्थान्तरे यो रूढिशब्दस्तस्यार्थान्तरे प्रयोगः...... रूढ्यर्थस्याभावात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम् ।

अर्थात् नामों को धातुज मानने का कारण यह है कि प्रकृति-प्रत्यय के योग के आधार पर शब्द, रूढि अर्थ तक सीमित न रह कर अपने व्यापक अर्थ को कह सके ।

४. निरुक्त के अन्य प्रसिद्ध टीकाकार दुर्ग की मान्यता है—

अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दा यथा प्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधाने विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रकुर्वन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति ॥ नि० टी० १-२०, पृ० ९४ ॥

अर्थात् अनेक निर्वचनों का अभिप्राय अनेकार्थता का बोध कराना है । अर्थ समझने वाला व्यक्ति जितना योग्य होगा, उतना ही अधिक वेद के शब्दों का अर्थ समझ सकेगा ।

५. निरुक्तसमुच्चय के प्रणेता वररुचि के मत में भी—

ब्रह्म, नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि । नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः ।

अर्थात् सब नाम सामान्यतया धातुज हैं, प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध को मान कर प्रयोग है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है ।

६. अब हम उदाहरणार्थ कतिपय ऐसे शब्दों का उल्लेख करते हैं, जिनके तत्तद् भाष्यकारों के किये हुए अर्थ, यौगिकवाद के सिद्धान्त की स्वीकृति के साक्षी हैं—

(क) स्कन्दस्वामी—ब्रह्म=आदित्यः पृ० ७०, असुरः=प्राणवानुद्गाता पृ० १७२, सिन्धवः=रश्मयः पृ० ६६, सविता=यजमानः निः ११-४८, शुना=वायुः २१४, मनः=विज्ञानम् पृ० १०६, अदितिः=कारणं ब्रह्म पृ० २६४ ॥

(ख) दुर्गाचार्य—(निरुक्तटीका) सुपर्णः=अग्निः पृ० ८४२, वरुणः=विद्युत् पृ० ८५१, असुर=प्रज्ञानवान् पृ० ३६१, इन्द्रश्चाग्निश्च=ब्राह्मणश्च राजा पृ० ४१७, सोमः=दुग्धम् पृ० ३५६, रश्मयः=स्त्रियः पृ० ३५६, आपः=वाणी पृ० ४३८ ॥

(ग) भट्टभास्कर (तै० सं०)—गावो=गन्तारो जनाः पृ० २८६, यज्ञं=परमात्मानम् पृ० १०४, वत्सः=रश्मयः (तै० आ० भा० १ पृ० ६२) ॥

(घ) उव्वट—पिता=पाता (यजुः २-१), इन्द्रः=यजमानः (य० ४-२७) ॥

(ङ) महीधर—सवितुः=परमेश्वरस्य (य० १०-६), इन्द्रः=आत्मा (य० ६-२०) ॥

(च) आत्मानन्द—अग्निः=अग्रणीः परमात्मा, सोमः=जगदीश्वरः, पुत्राः=अंशाः अवयवाः, स्वसारः=ज्ञानेन्द्रियाणि, अश्विभ्याम्=गुरुशिष्याभ्याम् (अश्विनौ गुरुशिष्यौ अध्यापकोपदेशकौ वा—दयानन्द) ॥

(छ) सायणाचार्य—अश्वः=व्यापनशील आदित्यः (ऋग्भाष्य १-१७४-१) इन्द्रः=पर्जन्यः (१-१६४-३३), भ्राता=परोपकारकः (१-१७०-४), वसिष्ठः=सर्वस्य वासयितृतमः (२-६-१), मनुः=मनुष्यो यद्वा माननीयो राजा (१०-५१-५) इन्द्रतमा=सर्वस्येश्वरतमा, अङ्गिरस्तमा=गन्तृतमा (७-७६-३) बृहस्पते=परमेश्वर (१०-६८-४) ॥

उपर्युक्त शब्द और उनके अर्थ निदर्शनमात्र हैं । लौकिक कोशों में तो इन शब्दों के ये अर्थ हैं नहीं । तब यौगिकवाद का आश्रय लिये बिना इन अर्थों के वाचक कैसे हो सकते हैं ? स्पष्टतः निघण्टु—निरुक्त की प्रक्रियानुसार अर्थात् धात्वर्थ के आधार पर निर्वचन द्वारा ही ये सब अर्थ उपपन्न हैं ॥२६॥

अब पर्यायवाची शब्दों का विवेचन करते हैं—

समानार्था अनेकशब्दाः ॥२७॥

अनेक शब्द एकार्थवाची होते हैं ।

यास्क ने जिन अनन्वित अथवा अस्पष्ट शब्दों को एकार्थ वा भिन्नार्थ जाना लोक के मार्गदर्शनार्थ उन शब्दों का संग्रह किया। फिर उन शब्दों को पढ़ कर यास्क ने अपने काल तक उन उन शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त को दर्शा दिया और वह भी निर्देश मात्र, जो उनके काल तक अविच्छिन्न परम्परा द्वारा चला आ रहा था। दूसरे शब्दों में शब्द-अर्थ के नित्य सम्बन्ध को यास्क ने अपने निघण्टु में दिखा दिया। मेघ के ३०, दिन के १०, रात्रि के २३, उषा के १६, किरण के १५, पृथिवी के २१, नदी के ३७, जल के १०० वाणी के ५७ और इसी प्रकार अन्य पदार्थों के पर्यायों का निघण्टु में संग्रह कर यास्क ने वेदार्थ के जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

यास्क ने अपनी कल्पना से ही ऐसा नहीं किया। गौ के ११ नाम यदृच्छा से निकालकर रख दिए हों, यह बात नहीं। इसका आधार स्वयं मूल वेदसंहिता तथा तद्व्याख्यान-ग्रन्थ ब्राह्मणादिक हैं। इस सन्दर्भ में उदाहरणार्थ ऋग्वेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्त्ति।
विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन्॥७-८७-४

कितना स्पष्ट है कि '**अघ्न्या**' (गौ) के २१ नाम हैं। इस प्रकार यास्क ने निघण्टु में जो नाम लिखे हैं वे वेद में से ही ढूँढ-ढूँढकर निकाले हैं। इन शब्दों के व्युत्पत्ति नियम को यास्क ने निघण्टु के व्याख्यान रूप निरुक्त में दिखाया। परन्तु एक जैसे अर्थ होने पर भी व्युत्पत्ति व निर्वचन के कारण उनमें अन्तर बना रहता है। यही कारण है कि '**पृथिवी**' का पर्याय '**गौ**' तो है किन्तु '**अघ्न्या**' नहीं, यद्यपि '**गौ**' और '**अघ्न्या**' पर्यायवाची हैं। निरुक्त और निर्वचन एकार्थवाची हैं॥२७॥

जैसे एक अर्थ वाले अनेक शब्द होते हैं, वैसे ही धातुज होने के कारण एक-एक शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं—

अनेकार्था धातवः॥२८॥

धातु अनेक अर्थ वाले होते हैं।

धातुओं की अनेकार्थता ही यौगिकवाद का मूलाधार है। इसलिए प्रायः सभी वैयाकरणों तथा वेदभाष्यकारों द्वारा न्यूनाधिक धातुओं की अनेकार्थता का सिद्धान्त मान्य है। महाभाष्यकार की तो स्पष्ट घोषणा है—'**बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति**' (१-३-१)। उदाहरणार्थ कतिपय अन्य आचार्यों के एतद्विषयक वचन उद्धृत हैं—

१. निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः—कुमारिलभट्ट
२. षो अन्तकर्मणि अनेकार्थत्वाद् गाने वर्त्तते—श्वेतवनवासी-उणादिवृत्ति (४-१६२)
३. अनेकार्थत्वाद् धातूनामिति वा दसु विभेदन इत्युक्तम्—छलारी टीका, पृ० ३७

४. अनेकार्थत्वाद् धातूनां तुञ्जतिः प्रेरणे वर्त्तते--जयतीर्थ टी० पृ० २७
५. मन्वतेऽवबुध्यते, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् क्षमत इत्यर्थः
—सा० भा० ऋ० १०-१६-६
६. धातूनामनेकार्थत्वाद् रिचिरत्र परिहारार्थे वर्त्तते—सा० भा० ऋ० १०-१३-४

स्वयं 'वेद' नाम जिस धातु से निष्पन्न हैं, उसके चार अर्थ होते हैं—विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम् विद् विचारणे तथा विद्लृ लाभे।

अग्निः कस्मात्—अग्नि को अग्नि क्यों कहते हैं? यास्क कहते हैं—अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु नीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः। अर्थात् अग्नि को अग्नि इसलिए कहते हैं कि वह अग्रणी होता है, क्योंकि यज्ञ में सबसे आगे लाया जाता है—अग्र+नी से अग्नि शब्द बनता है। स्वयं झुकता हुआ यज्ञ के अंग-उपकारक चरु आदि को ले जाता है अर्थात् अङ्ग+नी से अग्नि शब्द बनता है। स्थौलाष्ठीवि आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द क्नूयी उन्दने धातु से पूर्व निषेधात्मक न=अ लगाने से सिद्ध होता है और इस प्रकार इसका अर्थ है—अक्नोपन=गीला न करने वाला अथवा सुखाने वाला।

शाकपूणि आचार्य कहते हैं—अग्नि शब्द तीन धातुओं से सिद्ध होता है—इण् गतौ, अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु अथवा दह् भस्मीकरणे और णीञ्=नी प्रापणे से। वह इण् धातु से अ, अञ्जू अथवा दह् से ग् और उसके आगे नी रखकर अग्नि शब्द बनाते हैं। यास्काचार्य का मत है कि अर्थ को कहने के लिए ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। इसलिए अर्थ की संगति जिस प्रकार बने उसी प्रकार निर्वचन करना चाहिए। इस सर्वमान्य नैरुक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही आचार्य शाकपूणि ने अग्नि शब्द की सिद्धि पूर्वोक्त प्रकार से की है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ में गति, दाह, व्यक्ति की शक्ति तथा प्रापण मिलें, वह सब अग्नि है। इन गति आदि अर्थों की व्यापकता तथा विस्तार का विचार करके ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि शब्द के बहुत से अर्थ लिखे हैं। उनमें से कुछ का निदर्शन यहाँ किया जाता है—

१. विराडग्निः। शत० ६.२.२.३४ विराट् अग्नि है।
२. अग्निर्वा अर्कः। शत० २-५-१-४ सूर्य अग्नि है।
३. पशुरेष यदग्निः। शत० ६.४.१.२ जो अग्नि है, वह पशु है।
४. अग्निर्वै देवानामवमः। शत० ३.१.३.१ अग्नि देवों में निचला है।
५. अग्निर्वै यज्ञस्यावरार्ध्यः। शत० ३.१.३.१ अग्नि यज्ञ का अवरार्ध्य है।
६. अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः। ऐत० १.२८ अग्नि देवों में सबसे अधिक बसाने वाला है।

७. शिर एवाग्निः। शत० १०.१.२.५ शिर ही अग्नि है।

८. आत्मैवाग्निः। शत० ६.७.१.२० आत्मा ही अग्नि है।

९. अग्निर्वै देवयोनिः। ऐत० १.२२ देवों का ठिकाना या कारण अग्नि है।

१०. अग्निर्वा योनिर्यज्ञस्य। शत० १.५.२.११ यज्ञ का कारण अग्नि है।

११. अग्निर्वा देवानां सुहृदयतमः। शत० १.६.२.१० देवों अर्थात् विद्वानों में सबसे उत्तम हृदय वाला अग्नि है।

१२. अन्नादोऽग्निः। शत० २.१.४.२८ अन्न खाने वाला अग्नि है।

१३. अग्निर्वा सर्वमाद्यम्। ता० २५.९.३ सब आद्य=खाने योग्य वस्तु अग्नि है।

१४. अग्निर्वा अन्नानां शमयिता। कौ० ६.१४ अन्नों अथवा अन्न के दोषों को शान्त करने वाला अग्नि है।

१५. अग्निः प्रजानां प्रजनयिता। तै० १.७.२.३ सन्तानों (प्रजाओं) को उत्पन्न करने वाला अग्नि है।

१६. अग्निर्वै रेतोधाः। तै० २.१.२.११ वीर्याधान करने वाला अग्नि है।

१७. प्रजननं वा अग्निः। तै० १.३.१४ सन्तान उत्पन्न करने वाला अग्नि है।

१८. अयं वा अग्निर्लोकः। शत० १.९.२.१३ यही (पृथिवी) लोक अग्नि है।

१९. संवत्सरोऽग्निः। शत० ६.३,१.१५ संवत्सर अग्नि है।

२०. वागेवाग्निः। शत० ३.३.२.१३ वाणी अग्नि है।

२१. तेजो वा अग्निः। तै० ३.३.४.३ तेज (भौतिक अग्नि) अग्नि है।

२२. अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा। शत० ७.४.१.३४ राक्षसों (रोगोत्पादक कीटाणुओं) का मारने वाला अग्नि है।

२३. अग्निर्वै सर्वेषां पाप्मनामपहन्ता। शत० ७.३.२.१६ सभी पापों का नाशक अग्नि है।

२४. तपो वा अग्निः। शत० ३.४.३.२ तप ही अग्नि है।

२५. अग्निर्वै होता। शत० ६.४.२.६ हवन करने, लेन देन करने, खाने वाला अग्नि है।

२६. अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः। शत० १.१.१.२ देवों=विद्वानों का रक्षक अग्नि है।

२७. अग्निर्वै देवानां यष्टा। तै० ३.३.७.६ देवों=विद्वानों का यज्ञ कराने वाला अग्नि है।

२८. अग्निर्मृत्युः। शत० १४.६.२.१० मृत्यु अग्नि है।

२९. पुरुषोऽग्निः। शत० १०.४.१.६ पुरुष अग्नि है।

३०. योषा वा अग्निः। शत० १४.९.१.१६ स्त्री अग्नि है।

३१. अग्निरु सर्वे कामाः। शत० १०.२.४.१ सब कामनायें अग्नि हैं।

३२. **मन एवाग्निः** । शत० १०.१.२.३ मन ही अग्नि है ।
३३. **प्राणो वा अग्निः** । शत० ६.५.१.६८ प्राण ही अग्नि है ।
३४. **वीर्यं वा अग्निः** । तै० १.७.२.२ वीर्य ही अग्नि है ।
३५. **अग्निर्वै गायत्री** । शत० ६.६.२.७ गायत्री अग्नि है ।
३६. **ब्रह्म वा अग्निः** । कौ० ६.१.५ ब्रह्म अग्नि है ।
३७. **पर्जन्यो वा अग्निः** । शत० १४.६.१.१३ बादल अग्नि है ।
३८. **अग्निर्वा अहः** । शत० ३.४.४.१५ दिन अग्नि है ।
३९. **दिशोऽग्निः** । शत० ६.२.२.३४ दिशायें अग्नि हैं ।
४०. **आयुर्वा अग्निः** । शत० ३.७.३.२ आयु अग्नि है ।
४१. **अग्निर्वा सर्वा देवताः** । सब देवता अग्नि हैं ।
४२. **अग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिः** । ऐत० ३.४२ स्वर्गलोक का अधिपति अग्नि है ।
४३. **अग्निर्वा आयुष्मान्** । शत० १३.८.४.८ दीर्घायु वाला अग्नि है ।
४४. **अग्निर्वै द्रष्टा** । गो० उ० २·१९ द्रष्टा अग्नि है ।
४५. **अग्निर्वा उपद्रष्टा** । गो० उ० ४.९ समीप से देखने वाला अग्नि है ।
४६. **अग्निर्हि स्विष्टकृत्** । शत० १.५.३.२३ स्विष्टकृत् अग्नि है ।
४७. **अग्निर्वाव पुरोहितः** । ऐत० ८.२७ पुरोहित अग्नि है ।
४८. **विश्वकर्माऽयमग्निः** । शत० ९.२.२.२ सब कर्मों का साधक अग्नि है ।
४९. **अग्निर्वै धाता** । तै० ३.३.१०.२ धारण करने वाला अग्नि है ।
५०. **अग्निर्वै वरेण्यम्** । जै० उ० ४.२८.१ वरेण्य अग्नि है ।
५१. **अग्निरेव सविता** । जै० उ० ४.२७ सविता=सूर्य अग्नि है ।
५२. **अग्निर्वै नभसस्पतिः** गो० उ० ४.९ आकाशाध्यक्ष अग्नि है ।
५३. **अग्निर्वै वनस्पतिः** । कौ० १०.६ वनस्पति अग्नि है ।
५४. **अग्निर्वै भरतः** । कौ० ३.२ अग्नि भरत=पालक है ।
५५. **अग्निर्वै ब्रह्मा** । ष० सर्ववेदवेत्ता अग्नि है ।
५६. **अग्निर्वै पथिकृत्** । कौ० ४.३ मार्ग बनाने वाला अग्नि है ।
५७. **अग्निर्वै यज्ञः** । तां० ११.५.२ यज्ञ ही अग्नि है ।
५८. **यजमानोऽग्निः** । शत० ६.३.३.२१ यजमान अग्नि है ।
५९. **विद्युदाख्योऽग्निः** । दयानन्द (ऋ० १.१२.६) विद्युत् नाम वाला अग्नि है ।
६०. **सर्वपदार्थच्छेदकोऽग्निः** । दयानन्द (ऋ० १.१२.१) सब पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने वाला अग्नि है ।

ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि शब्द के और भी अनेक अर्थ दिए हैं । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में इन अर्थों का उपयोग करते हुए इनके

अतिरिक्त और भी अर्थ दिए हैं जो मूल अर्थों से सर्वथा अविसंवादी हैं। ऊपर उदाहरणार्थ केवल दो अर्थ दिए गए हैं। स्पष्ट है कि इन अत्यन्त पुरातन ऋषिकल्प विद्वानों के मत में अग्नि का अर्थ केवल भौतिक आग ही नहीं है। यही बात अन्य शब्दों के विषय में भी सत्य है। रूढिवाद में इतने अर्थ होना सम्भव नहीं। अतः अगत्या नामों को धातुज मानकर यौगिकवाद का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है ॥२८॥

जब एक-एक धातु के अनेक अर्थ होंगे तो उन धातुओं से निष्पन्न शब्दों के और उस शब्द-समुदाय से बने मन्त्रों का एक ही अर्थ कैसे हो सकता है। इसलिए कहा—

धातूनामनेकार्थत्वादनेकार्थका मन्त्राः ॥२६॥

धातुओं के अनेकार्थक होने से मन्त्र भी अनेकार्थक हैं।

जब मन्त्रान्तर्गत सभी शब्द यौगिक हैं और अनेकार्थक धातुओं से निष्पन्न हैं तो स्वभावतः प्रत्येक मन्त्र भी अनेकार्थक होगा। उदाहरणार्थ हम ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ० १-१-१ ॥

अर्थ १. (परमेश्वर पक्ष में)—मैं (यज्ञस्य) यज्ञ, सुसंगत ब्रह्माण्ड सर्ग के (होतारं) सम्पादन तथा धारण करने वाले, (पुरोहितं) पहले ही समस्त परमाणु, प्रकृति और सृष्टि से पूर्व विद्यमान और उसे धारण करने वाले, (ऋत्विजं) प्रति ऋतु अर्थात् प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति काल में सृष्टि के घटक पदार्थों को मिलाने वाले (रत्नधातमं) समस्त रमण करने योग्य, पृथिवी आदि लोकों को सबसे बढ़ कर धारण करने वाले (देवं) सब पदार्थों के दाता, द्रष्टा और प्रकाशक (अग्निं) सबसे पूर्व विद्यमान, ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (इडे) स्तुति करता हूं ॥

२. (राजा व विद्वान् के पक्ष में)—(यज्ञस्य होतारं) प्रजापालनरूप, परस्पर सत्संग से होने योग्य यज्ञ, अर्थात् प्रजापति के कार्य को अपने वश करने वाले, (पुरोहितं) सबके समक्ष प्रमाणरूप से स्थित, एवं सबसे पूर्व धारण करने वाले, (ऋत्विजं) सभा के सदस्यों के प्रेरक सभापति, (रत्नधातमं) सबसे बढ़ कर रमणीय गुणों को धारण करने वाले एवं रत्न सुवर्ण आदि के धारण और प्रदान करने वाले, (अग्नि) अग्रणी, नायक, (देवं) दानशील, विजयशील राजा, सेनापति सभापति, पुरुष का मैं प्रजाजन (ईडे) आदर सत्कार करता हूँ ॥

३. (भौतिक पक्ष में)—यज्ञ, शिल्पादि के कर्त्ता, (पुरोहितं) पहले से ही छेदन-भेदन आदि गुणों को धारण करने वाले, (देवं) प्रकाशयुक्त, (ऋत्विजं) गति देने वाले साधनों, मन्त्रों एवं पदार्थों को सुसंगत करने वाले, (रत्नधातमं) रमण करने

योग्य रथ आदि यन्त्रों के धारक (अग्नि) आग को मैं (ईडे) प्रेरित करता हूँ, उसका यन्त्रों और यज्ञों में सदुपयोग करता हूँ ॥

४. (यज्ञाग्नि पक्ष में)—यज्ञ की आहुति ग्रहण करने वाले ऋत्विक् के समान प्रति ऋतु यज्ञ करने वाले पुरोहित के समान आगे आदरपूर्वक आधान किये गये, प्रकाशयुक्त अग्नि को मैं प्रज्वलित करता हूँ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेनऽईशत माघश ँ सो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥ यजुः १-१ ॥

अर्थ १—(आधिदैविक)—जगत् का प्रेरक उत्पादक देव सविता श्रेष्ठतम कर्म (यज्ञ) के लिये मेघ बरसाने आदि विविध गति तथा अन्नादि पदार्थों में बल एवं प्राणशक्ति देने के लिये तुझ वायु को प्रेरित करे। हे अहिंसनीय गौ आदि पशुओं ! तुम बाह्य तथा आन्तरिक रोगों से रहित होते हुए, बहुत सन्तति वाले होकर ऐश्वर्यवान् यजमान के लिये सेवनीय घृत, दुग्ध आदि पदार्थों को बढ़ाओ। कोई चोर अथवा हिंसक प्राणी तुम्हें पीड़ित न करे। तुम इस यजमान के पास बहुत संख्या में स्थिर रूप से रहो। (सविता से प्रेरित) वायु ! तू यजमान के पशुओं की रक्षा कर ॥

२. (आधिभौतिक)—जगत् का प्रेरक उत्पादक देव सविता श्रेष्ठतम कर्म (राष्ट्रयज्ञ) के निमित्त समृद्धि तथा शक्ति के लिये तुझ पुरोहित (वायुर्वाव पुरोहितः) को प्रेरित करे। हे अहिंसनीय प्रजावर्ग ! तुम बाहरी तथा भीतरी उपद्रवों से रहित होकर बहु सन्तान युक्त होओ। तुम्हें कोई शत्रु तथा देशद्रोही आक्रान्त न करे। इस भूपति के निमित्त तुम समुन्नत तथा दृढ़ रहो। (सविता से प्रेरित) पुरोहित ! तू इस राजा के निमित्त प्रजा की रक्षा कर ॥

३. (आध्यात्मिक)—देव सविता श्रेष्ठतम कर्म (शरीर यज्ञ) के लिये शरीरस्थ प्राणों को पोषण और जीवन के लिये प्रेरित करे। विकास को प्राप्त हुई हे अहिंसनीय इन्द्रियों ! तुम बाहरी तथा भीतरी व्याधियों से रहित होकर जीवात्मा के लिये भोग तथा ऐश्वर्य को बढ़ाओ। कोई दुर्गुण या पापभाव तुम्हें आक्रान्त न करे। तुम अपने पालक जीवात्मा के लिये विकसित तथा दृढ़ रहो। (सविता से प्रेरित) प्राण ! तू इस इन्द्रियपति जीवात्मा के निमित्त इन्द्रिय आदि की रक्षा कर ॥२६॥

निरुक्त के सिद्धान्तानुसार वेद के सभी शब्द धातुज होने से जितने भी धातुओं से उनके निर्वचन हो सकें किये जा सकते हैं। साथ ही धातुओं के अनेकार्थता का सिद्धान्त भी सर्वमान्य है। जो विशेषण है, वह विशेष्य हो सकता है और जो विशेष्य है, वह विशेषण हो सकता है—**तदुभयं विशेषणं भवत्युभयं च विशेष्यम्।**

ऐसी अवस्था में अर्थ की नियामकता कैसे होगी ? किस शब्द का कहाँ कौन सा अर्थ अपेक्षित है—इसका निर्धारण कैसे होगा ? इसका उत्तर है—

प्रकरणादेः ॥३०॥

प्रकरणादि के अनुसार ।

रूढिभाव को छोड़ कर, इस सन्दर्भ में वेद के सम्बन्ध में भी प्रायः वही नियम लागू होते हैं जो आचार्यों द्वारा लौकिक शब्दों के व्यवहारार्थ निर्धारित किये गये हैं । इस विषय में भर्तृहरि ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **वाक्यपदीय** में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यमविरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ २-३१६, ३१७॥

शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय केवल रूप को देख कर नहीं कर लेना चाहिये, अपितु इसके निर्णय के लिये वाक्य, प्रकरण, औचित्य तथा देशकालादि का भी ध्यान रखना चाहिये । संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, अविरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द का सामीप्य—इन आठ नियमों के अनुसार वाच्यार्थ का निर्णय करना चाहिये ।

बृहद्देवता (२-१२०) में भी प्रायः इन्हीं शब्दों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद् देशकालतः ।
मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्यादितरेष्विति स्थितिः ॥

अर्थात् बृहद्देवताकार भी अर्थ, प्रकरण, लिंग, औचित्य और देशकालादि द्वारा ही मन्त्रार्थ का विवेक मानता है ।

मीमांसा के मतानुसार **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** (मी० ३-३-१४)—श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या=संज्ञा, ये ६ अर्थ के नियामक हैं । इनमें भी पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व बलवान् होता है ।

उपर्युक्त नियमों के आधार पर ही अर्थों का निश्चय होता है, यही यौगिकवाद है । वेद के व्यापक अर्थों के मूल में यही सिद्धान्त है ॥३०॥

लौकिकशब्दार्थाविव ॥३१॥

लौकिकशब्दार्थ के समान ।

लोक में भी प्रकरणभेद से एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक होता है ।

जैसे — गुण शब्द सामान्यतया धर्म, स्वभाव, विशिष्टता, श्रेष्ठता आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। परन्तु व्याकरणशास्त्र में अदेङ् गुणः (अ० १-१-२) सूत्र के अन्तर्गत वह गुण संज्ञा के रूप में प्रसिद्ध है तो अलङ्कारशास्त्र में माधुर्य आदि गुणों का वाचक है। सांख्य दर्शन में सत्व-रजस्-तमस् के लिये प्रयुक्त है तो वैशेषिक दर्शन में वह छह पदार्थों में से एक है। संगीत शास्त्र में वह वाद्ययन्त्र का तार है तो धनुष के प्रसंग में वह उसकी डोरी और मेखला के साथ लग कर सामान्य रस्सी के लिये प्रयुक्त है। गणित शास्त्र में संख्या के साथ समास के अन्त में लग कर (द्विगुणः, चतुर्गुणः) आवृत्ति का द्योतक है तो भोजन के सन्दर्भ में वह चटनी आदि के लिये प्रयुक्त है।

इस विषय को विस्पष्ट करने के लिये हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

१. हठयोगप्रदीपिका का बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥

इस श्लोक में आपाततः गोमांस खाने तथा मदिरा पीने का विधान दीख पड़ता है। परन्तु वास्तव में यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। अगले ही श्लोक में लेखक ने इसका अर्थ स्पष्ट कर दिया है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥

अर्थात् योगी पुरुष जिह्वा को लौटा कर तालु में प्रवेश करता है, उसी को गोमांस भक्षण कहते हैं। गो जिह्वा को कहते ही हैं और जिह्वा मांस की होती है। इसलिये जिह्वा को गोमांस कहा गया है।

२. एक अन्य श्लोक है—

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये ।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति बाह्मणो ॥

पालिभाषा के इस श्लोक का संस्कृत में रूपान्तर इस प्रकार होगा—

मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ ।
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा अनघो याति ब्राह्मणः ।

इस श्लोक में ब्राह्मण को निष्पाप होने के लिये कहा गया है कि वह अपने माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा कर्मचारियों सहित समूचे राष्ट्र की हत्या करदे। कितनी भयंकर बात है। परन्तु यह ज्ञात होने पर कि यह श्लोक धम्मपद का है जहां ये शब्द विशेषतः पारिभाषिक हैं, सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। वहाँ प्रकरणान्तर्गत माता-पिता का अर्थ है तृष्णा व अहंकार, दो राजाओं से अभिप्राय

है शरीर को नित्य मानना तथा पुनर्जन्म में विश्वास न रखना और कर्मचारियों सहित राष्ट्र का अर्थ है विषयों सहित मन। अब देखिये, कितना सुन्दर अर्थ बन गया।

३. अन्यत्र कहा है—**कुमारिकापादघातेन तत्क्षणं म्रियते फणिः।** अर्थात् कुमारी के पैर के आघात से सांप तत्काल मर जाता है। परन्तु ऐसा होना असंभव है। वास्तव में यह वाक्य आयुर्वेद विषय का है जिसमें बताया गया है कि यदि घीकुवार (ग्वारपाठा) के रस में डाल कर उसकी जड़ की आग में सीसे को पकाया जाये तो वह शीघ्र भस्म बन जाता है।

४. वैद्यकशास्त्र में सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ५ में जहां भिन्न भिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है, वहाँ लिखा है—

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥२५॥

इसकी टीका में लिखा है—**यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः। रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, तमो मोहः ज्योतिर्ज्ञानम् ॥**

आयुर्वेद का प्रकरण होने से यहाँ इन्द्र, रुद्र, आदि का अर्थ शरीर में विभिन्न शक्तियाँ किया गया है। इसी प्रकार वेद के शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार निश्चित होगा ॥३१॥

वैदिक शब्दों के यौगिक होने के कारण मन्त्रों के अनेकार्थक होने से यह नहीं कहा जा सकता कि वेद का इतना ही अर्थ है। इसकी व्याख्या अगले सूत्र में की गई है—

न वेदार्थस्येयत्ता ॥३१॥

वेदार्थ की इयत्ता (सीमा) निश्चित नहीं की जा सकती।

निरुक्तशास्त्र में लक्षणोद्देशमात्र (लक्षणों को दर्शाने के लिये संकेत मात्र) ही एक एक शब्द का निर्वचन मात्र किया गया है। तदनुसार वेदमन्त्रों में जितने भी अर्थ उपपन्न हो सकें उनकी योजना कर लेनी चाहिये। परन्तु मानवबुद्धि सर्वज्ञ परमेश्वर के अनन्त ज्ञान को सर्वांगरूप में समझने—उसकी इयत्ता पाने में सर्वथा असमर्थ है। ईश्वर के अनन्त ज्ञान की सीमा निर्धारित करना अल्पज्ञ जीव के लिए सर्वथा असंभव है। अनादि काल से ऋषि मुनि वेदाङ्गों, उपाङ्गों, उपनिषदों, ब्राह्मणग्रन्थों आदि की सहायता से वेदों का परिशीलन करते आ रहे हैं। परन्तु वे भी आज तक वैदिक वाङ्मय की इयत्ता नहीं पा सके। मनुष्य के सिर की इयत्ता—उसकी लम्बाई चौड़ाई का निश्चय किया जा सकता है, पर उसके भीतर समाहित विचारशक्ति की इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती। इसी प्रकार वेद के स्वरूप—

ग्रन्थ के रूप में उसकी इयत्ता नियत होने पर भी उसमें निहित ज्ञान की सीमा निर्धारित करना असंभव है।

सर्वज्ञानमयो हि सः—वेद समस्त ज्ञान का भण्डार है—सम्पूर्ण विद्याओं का आदिमूल है। किसी भी एक व्यक्ति को—चाहे वह आचार्य हो या महापण्डित, ऋषि हो या मुनि—सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान नहीं हो सकता। वेद में निहित ज्ञान की छोटी बड़ी अनेकों शाखायें हैं। अतएव कोई एक व्यक्ति वेद के ज्ञानसागर की थाह नहीं पा सकता। आज तक किसी भी मनीषी ने वेदार्थ का पूर्ण ज्ञाता होने का दावा नहीं किया। करता भी कैसे? भर्तृहरि नें **वाक्यपदीय** (१-३४) में ठीक लिखा है—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

अर्थात् योग्य विद्वानों द्वारा यत्नपूर्वक निर्धारित किया हुआ अर्थ भी अन्य योग्यतम विद्वान् द्वारा अन्यथा प्रतीत होने लगता है।

इन सब बातों पर गंभीरतापूर्वक विचार करके निरुक्त के सुप्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने कहा—

(क) **अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीति॥** नि० टी० १.२०

वैदिक शब्दों की अभिधानशक्ति क्षीण होने वाली नहीं है। पुरुषों की प्रज्ञाशक्ति जैसी होती है, वैसे ही वैदिक शब्द अर्थों में परिणत होते हैं।

(ख) **न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति॥**

(नि० टी० २-८)

मन्त्रों के अर्थों की सीमा नहीं है। ये अनेक अर्थों से युक्त हैं और कठिनता से जाने जाते हैं। जैसे घुड़सवार की विशिष्टता के अनुसार घोड़े तेज और तेजतर होते हैं, वैसे ही अर्थ करने वालों की प्रज्ञाशक्ति के अनुसार मन्त्र साधु और साधुतर अर्थों को प्रकट करते हैं।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपना समस्त जीवन एक दो सूक्तों अथवा दस बीस मन्त्रों का अर्थ जानने में खपा दिया। यास्क-पाणिनि-जैमिनि व्यास जैसे महामतियों ने वेदाङ्गों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना करके मार्गदर्शक का कार्य अवश्य किया, परन्तु किसी एक मस्तिष्क ने भाष्य द्वारा वेद का सम्पूर्ण अर्थ करने का साहस नहीं किया। अन्तरिक्ष में उड़ान भरने तथा अग्न्यादि भौतिक अर्थों के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर उनका भरपूर उपयोग करने में समर्थ होकर

मनुष्य इस सृष्टि के विषय में जितना कुछ जान पाया है, वह न के बराबर है। तब उसके स्रष्टा द्वारा प्रदत्त ज्ञान का पार पाने की वह कैसे सोच सकता है? यही कारण है कि वेद का सर्वांगपूर्ण भाष्य न आज तक हो सका है और न आगे कभी हो सकेगा। परन्तु जिस प्रकार हम यथाशक्ति सृष्टि के पदार्थों का अधिक से अधिक उपयोग करते हैं, उसी प्रकार आप्त पुरुषों की सहायता से अपने सामर्थ्यानुसार वेद का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर उससे लाभान्वित हो सकते हैं ॥३२॥

एक-एक मन्त्र के जब तक अनेक प्रकार के अर्थ नहीं होंगे तब तक वेदों का 'सर्वज्ञानमय' होना उपपन्न नहीं होगा। इस विषय का विवेचन अगले सूत्र में किया गया है—

विविधार्थयोजना सर्वज्ञानमयत्वात् ॥३३॥

वेद के सर्वज्ञानमय होने से उसके अनेकविध अर्थ करने होंगे।

मन्त्रों में अर्थों की सीमा नहीं है। कई मन्त्रों के बहुविध अर्थ भी पूर्वाचार्यों ने किये हैं। **चत्वारि वाक्परिमिता पदानि** (ऋ० १.१६४.४५) इस ऋचा के छह प्रकार के अर्थ यास्काचार्य ने दर्शाये हैं—

कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः॥ नि० १३-९॥

अर्थात् चार प्रकार की वाक् है—(१) ओंकार और तीन महावृति, यह ऋषियों का मत है। (२) नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात, यह वैयाकरण मानते हैं। (३) मन्त्र, कल्प, ब्राह्मणग्रन्थ और व्यावहारिकी भाषा, यह याज्ञिकों का मत है। (४) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और व्यावहारिकी भाषा, यह नैरुक्त मानते हैं। (५) सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तुओं, सरीसृपों की और व्यावहारिकी, यह कुछ आचार्यों का कथन है। (६) पशुओं की, तूणवों (वादकों) की, मृगों की और आत्मा की, यह आध्यात्मवादियों का मत है।

परन्तु मन्त्रों की यह अनेकार्थता यदृच्छया न होकर सर्वथा व्यवस्थित रही है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१-३-१) में वेदार्थ की पांच प्रक्रियाओं का निर्देश मिलता है—

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु—अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम्॥

कालान्तर में मनुष्य समाज में मेधाशक्ति के ह्रास के कारण ऋषियों ने विविध प्रक्रियानुसारी बहुविध वेदार्थ को आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक, इन तीन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सीमित कर दिया। तदनुसार पदार्थ विज्ञान का समावेश आधिभौतिक प्रक्रिया में, ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति, गति अर्थात् ज्योतिष-विज्ञान, कालविज्ञान, वस्तुविज्ञान, आदि बहुविध विज्ञानों का समावेश आधिदैविक प्रक्रिया में तथा शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान और ईशविज्ञान का समावेश आध्यात्मिक प्रक्रिया में किया गया। इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित पञ्चविध प्रक्रिया में से अधिलोक-अधिज्योतिष का आधिदैविक प्रक्रिया में, अधिप्रज-अध्यात्म का आध्यात्मिक प्रक्रिया में तथा अधिविद्य का आधिभौतिक प्रक्रिया में अन्तर्भाव जानना चाहिये। परन्तु निर्वचन को प्रधानता देकर जो भी मन्त्र व्याख्या की जायेगी वह नैरुक्तप्रक्रियानुसारी ही समझी जायेगी।

यतः आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—इन तीन में विश्व का समस्त प्रपञ्च समा जाता है, अतः प्राचीन आचार्य मन्त्रों के त्रिविध अर्थ करते थे। भगवान् यास्क ने **वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** ऋग्वेद (१०-७१-५) के इस मन्त्रांश की व्याख्या करते हुए कहा—

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते, पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। नि.१-१६ यास्क के इस वचन से स्पष्ट है कि दिव्यवाणी वेद के याज्ञिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये त्रिविध अर्थ होते हैं। निरुक्त के प्रसिद्ध व्याख्याता दुर्गाचार्य के मत में भी मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं, यह उनके इस कथन से स्पष्ट है।
आध्यात्मिकाधिदैविकाधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते। नि.टी.१-१८

वर्तमान में उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यकारों में स्कन्दस्वामी प्राचीनतम हैं। निरुक्त की अपनी टीका में यास्क के पूर्व निर्दिष्ट मत का विस्तार से प्रतिपादन करके उपसंहार करते हुए वह कहते हैं—

सर्वदर्शनेषु (पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु) च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। निरुक्तटीका ७-५॥

अर्थात्—सब पक्षों (याज्ञिक,अधिदैवत और अध्यात्म) में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये। क्योंकि स्वयं भाष्यकार (निरुक्तकार यास्क) ने सब मन्त्रों के तीन प्रकार के विषय बताने के लिये, अर्थ को मन्त्ररूपी वाक् का 'पुष्पफल' कहा है। और यज्ञादि को पुष्प वा फल माना है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती को वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया सर्वथा मान्य है और वेद को सब सत्य विद्यायों का मूल मानने के कारण उन्होंने यत्र तत्र सर्वत्र

उसका उल्लेख तथा प्रयोग किया है। तथापि सर्वजनोपयोगी भावना से उन्होंने उसी योजना के अन्तर्गत अपनी भी एक उद्‌भावना की है। वेदों के याज्ञिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ बड़े सूक्ष्म हैं। उनमें सबकी बुद्धि प्रवेश नहीं कर पाती। परन्तु वेदों के व्यावहारिक अर्थ से तो साधारण लोग भी वैदिक शिक्षा के अनुकूल अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं ऐसा मान कर स्वामी दयानन्द ने प्राचीन ऋषियों द्वारा स्वीकृत मार्ग का आश्रय लेकर मन्त्रों के व्यावहारिक अर्थ को महत्त्व दिया। एतदर्थ उन्होंने अपनी **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के प्रतिज्ञा प्रकरण में कहा—

अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते···यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति ... ।

अर्थात्-जिस जिस मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थ श्लेषादि अलंकारों से सप्रमाण सम्भव हैं, वहां वहां उनके दो दो अर्थ लिखेंगे·· जहां निश्चय ही केवल व्यावहारिक अर्थ है ...।

व्यावहारिक अर्थ वेदार्थ को सर्वसाधारण तक पहुंचाने के उद्देश्य से प्रस्तुतिकरण की एक विशिष्ट शैली है। अन्यथा वह त्रिविधार्थ प्रक्रिया के अन्तर्गत है ॥३३॥

याज्ञिक अर्थ बड़े महत्त्व का है। परन्तु सर्वविद्यायें तथा सर्वविध ज्ञान के भण्डार को केवल इसी में सीमित नहीं किया जा सकता—

न यज्ञार्थमेव वेदाविर्भावः ॥३४॥

केवल (द्रव्यमय) यज्ञ के लिये वेद प्रवृत्त नहीं हुए।

भारतीय इतिहास के अनुसार अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग तथा त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ। **त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे** (म.भा.शा.प. २३२-३२), **यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्त्तनम्** (वायुपुराण ५७-९९) इत्यादि प्रकरणों से इसकी पुष्टि होती है। कालान्तर में यज्ञों का प्राधान्य हो जाने से वेदमन्त्रों का विनियोग यज्ञों में होने लगा और जैसे जैसे यज्ञों की प्रधानता बढ़ती गई, वैसे वैसे वेद का आध्यात्मिक तथा आधिदैविक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ की प्रधानता हो गई। धीरे धीरे **वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः**—वेद का प्रयोजन यज्ञ है, ऐसी धारणा बनती गई। ऋग्वेद के एक मन्त्र **यज्ञेन वाचं पदवीयमायन्** (१०-७१-३) के आधार पर यहां तक कहा जाने लगा कि समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है। इस प्रकार सायणाचार्य ने वेदों का अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डपरक अर्थ मान कर आधियाज्ञिक अर्थों में ही उनका पर्यवसान कर दिया।

वेदमन्त्रों के केवल आधियाज्ञिक अर्थ किये जाने का प्रत्यक्ष प्रहार आधिदैविक प्रक्रिया पर हुआ। प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद के जो वैज्ञानिक अर्थ किये जाते थे वे धीरे धीरे लुप्त होते गये। परिणामतः अत्युत्कृष्ट वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक मन्त्र चारण-भाटों के स्तुतिवचन बन कर रह गये। आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ को समझने का एक मात्र साधन यास्कीय निरुक्त रह गया। हां, कुछ हद तक ब्राह्मणग्रन्थों, विशेषतः शतपथ ब्राह्मण से अवश्य कुछ सहायता मिल सकती है। यास्क के मतानुसार आधिदैविक वेदार्थ पुष्पस्थानीय है तो आध्यात्मिक फलस्थानीय। जब फूल आने बन्द हो गये तो फल कहां से आते?

परन्तु यदि वेद का प्रयोजन केवल द्रव्य यज्ञों का सम्पादन करना ही है तो वेद के सर्वविद्यामूलकत्व का क्या अर्थ होगा? सर्ग के आदिकाल में प्रादुर्भूत वेद तो मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार हैं। उसमें लोकोपयोगी समस्त विद्यायें-आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों के विज्ञान तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। वेदविषयक इस सर्वसम्मत सिद्धान्त की रक्षा के लिये वेदमन्त्रों की अनेकार्थप्रतिपादक शक्ति का मानना आवश्यक है। शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि वेदमन्त्रों के विविध प्रक्रियागम्य अर्थ के विषय में कहते हैं—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ. १-२२-१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्त्तते।" महाभाष्यप्रदीपिका-पृष्ठ २६८॥

अर्थात्—'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेकशक्ति वाला होने से अधिदैवत, अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य), नारायण और चषाल में स्वशक्ति से प्रवृत्त होता है॥३४॥

जैसे आधिदैविक अर्थ विज्ञानपरक है और वह भी अनेकविध है, वैसे ही आध्यात्मिक अर्थ भी आत्मा-परमात्मा-शरीर सम्बन्ध से तीन प्रकार से विभक्त है—

जीवेश्वरदेहानामन्तर्भावोऽध्यात्मे॥३५॥

अध्यात्म में जीव, ईश्वर तथा शरीर तीनों का अन्तर्भाव है।

आत्मा के विषय में जो कहा जाये वह अध्यात्म कहलाता है। आत्मा शब्द का प्रयोग ईश्वर और जीव दोनों के लिये होता है। महाभाष्य (१-३-६७) के अनुसार भी द्वावात्मानौ अन्तरात्मा शरीरात्मा च वह विश्वात्मा (परमेश्वर) और शरीरात्मा (जीव) दोनों का वाचक है। उधर अथर्ववेद (१०-२-३२ व १०-८-४३) में यज्ञ=जीव को आत्मन्वत् विशेषण से युक्त करके, आत्मा (शरीर)

वाला कह कर **आत्मा** को शरीर का वाचक बताया है। इस प्रकार **आत्मा** शब्द का अर्थ आत्मा, परमात्मा और शरीर तीनों है। ऐसी अवस्था में आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ में शरीर, जीव और ईश्वर संबन्धी सभी ज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है। वेद का सम्पूर्ण ज्ञान जीव के अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिये है। अतः वेद के साथ जीव का संबन्ध अवश्यंभावी है और जिस प्रकार वेद में संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान निहित है उसी प्रकार वेद में ईश्वर संबन्धी ज्ञान का निर्देश होना भी आवश्यक है। इस प्रकार वेद के आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी अर्थ का अभिप्राय है—ईश्वर, जीव और शरीर संबन्धी ज्ञान का प्रतिपादन। केवल याज्ञिक प्रक्रियानुसार अर्थ का परिणाम यह हुआ कि वेद से अध्यात्मविद्या का संबन्ध छूट गया। अध्यात्मविद्या के मुख्य ग्रन्थ उपनिषद् बन गये। कालान्तर में वेद 'अपरा' विद्या तक सीमित रह गये। **'अपरा'** से उत्कृष्ट **'परा'** (यया अक्षर-मधिगम्यते) विद्या का वेद से नाता टूट गया और इस विषय में उपनिषद्, गीता आदि पौरुषेय ग्रन्थ प्रमाण माने जाने लगे ॥३५॥

वेदमन्त्रों के अनेकार्थक होने पर भी ईश्वरपरक अर्थों का किया जाना अनिवार्य है, क्योंकि सब प्रकार के अर्थों में वही मुख्य है। इसलिये कहा जाता है—

नेश्वरस्यात्यन्तं त्यागो मुख्यतो भगवत्प्रतिपत्तिहेतुत्वात् ॥३६॥

(वेद के किसी भी मन्त्र में) ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, ईश्वर प्राप्ति में (वेदों का) मुख्य प्रयोजन होने से।

वेद ईश्वर प्रदत्त हैं। अतः ईश्वर के साथ वेद का घनिष्ठ संबन्ध है। जिस प्रकार वह अपने प्रायोगिक क्षेत्र-सृष्टि के कण कण में ओतप्रोत है, उसी प्रकार वह अपनी सैद्धान्तिक कृति वेद के भी एक एक मन्त्र में समाहित है। यास्क ब्रह्म को वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानते हुए निरुक्त (७-४) में कहते हैं—

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा स्तूयते अर्थात् देवता के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट में इस प्रकार दिया है—

"अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म।"

अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है। वेद की दृष्टि में वह महानात्मा **अग्नि है—अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः** (ऋ. ३-२६-७)। **अग्निमीडे कह कर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र** में उसी की स्तुति का उल्लेख किया गया है। उसी को अन्यत्र अन्यान्य नामों से पुकारा गया है।

कुछ लोग अध्यात्म विषय को उपनिषदों में ही निहित मानते हैं। परन्तु स्वयं उपनिषद् आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ—कठोपनिषद् (१-१५) में कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'''तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।

इससे स्पष्ट है कि समस्त वेद का प्रतिपाद्य विषय ओम् है । कठोपनिषद् की इसी श्रुति की प्रतिध्वनि गीता के ८ वें अध्याय के ११वें श्लोक में है । आगे चल कर तो श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह डाला—**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** (गीता १५-१५) । यही बात भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को अध्यात्म-विद्या का उपदेश करके अन्त में कही—

दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमद्भुतम् ।
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्रहेतोः समुद्धृतम् ॥ म.भा.शा.प. २४६-१४,१५

अर्थात् जैसे दही को मथ कर मक्खन निकाला जाता है, या लकड़ियों को रगड़ कर अग्नि को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार दश सहस्र ऋचाओं को मथ कर मैंने यह अध्यात्म ज्ञान निकाला है ।

यहां दी हुई उपमाओं से स्पष्ट है कि जैसे दही के प्रत्येक भाग में सूक्ष्म रूप में नवनीत विद्यमान है और जैसे काष्ठ के प्रत्येक भाग में सूक्ष्म रूप से अग्नि विद्यमान है वैसे ही दश सहस्र ऋचाओं (के समूह ऋग्वेद) की प्रत्येक ऋचा में सूक्ष्म रूप से अध्यात्म ज्ञान निहित है। तदनुसार ही स्वामी दयानन्द की मान्यता है —**नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे ऽत्यन्तत्यागो भवति** (ऋ. भा. भू. प्रतिज्ञाविषय) अर्थात् वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता ॥३६॥

क्योंकि आचार्यों के मत में प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है । अतएव—

अध्यात्मप्रसङ्गे ईश्वराख्या अग्न्यादयः ॥३७॥

अध्यात्म प्रसंग में अग्नि आदि शब्द ईश्वरवाचक है ।

निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक व आधिदैविक प्रक्रिया में **अग्नि** शब्द से परमेश्वर राजा, नेता, विद्वान् आदि का भी ग्रहण होता है । परन्तु अग्नि वरुण इन्द्र-मरुत्-यम-आदित्य आदि शब्द मुख्य वृत्ति से ईश्वरवाची हैं । ऋक्सर्वानुक्रमणी-कार कात्यायन का वचन है—**ओङ्कारः सर्वदेवत्यः पारमेष्ठ्यो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकः ।**

अर्थात् अध्यात्म में सब ऋचाओं का देवता ओङ्कार, परमेष्ठी अथवा ब्रह्म है । यह सब नैरुक्त प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है, क्योंकि वेद के सभी शब्द धातुज, आख्यातज अथवा यौगिक हैं । इतना ही नहीं, वेद के अनेक मन्त्रों में अग्नि आदि के कतिपय ऐसे विशिष्ट विशेषण प्रयुक्त हैं जो केवल अध्यात्म प्रक्रिया में ही उपपन्न हो सकते हैं । जैसे—**कविमग्निमुपस्तुहि** (ऋ. १-१२-७) में अग्नि का

कवि विशेषण है। भौतिक अग्नि के लिए काव्य रचना करके कवि की पदवी पाना कैसे संभव होसकता है। निश्चय ही उसका लक्ष्य वह परमेश्वर है जिसके विषय में **'कविर्मनीषी'** तथा **पश्य देवस्य काव्यम्**—कहा गया है ॥३७॥

इतरत्र भौतिकपदार्थविद्योतिनः ॥३८॥

अन्यत्र अर्थात् व्यावहारिक जीवन अथवा पदार्थ विद्या, शिल्प आदि के वर्णन में अग्नि आदि शब्द भौतिक अग्नि आदि पदार्थों के भी वाचक हैं ॥३८॥

किस मन्त्र का उपयोग कब, कहां करना चाहिये—इस विषय में कहा है—

मन्त्रार्थानुसृतो विनियोगः ॥३९॥

मन्त्र का विनियोग उसके अर्थ पर आश्रित है।

जिस मन्त्र का जो अर्थ होगा तदनुसार ही वह मन्त्र विनियुक्त होगा। अन्यथा वह विनियोग अयुक्त माना जायेगा। मन्त्रलिङ्ग से तत्तत् कर्म में नियुक्ति विनियोग का लक्ष्य है। अतः यथार्थ विनियोग मन्त्र में अर्थ से ही जाना जाता है। दूसरे शब्दों में तत्तत् कर्म में विनियुक्त हुआ मन्त्र स्वयं अपने अर्थ के कारण ही उस उस कर्म में विनियुक्त है। जैसे—**उद्बुध्यस्वाग्ने**··· (यजु० १५-५४) इस मन्त्र को पढ़ कर हम यज्ञकुण्ड में अग्न्याधान करते हैं। मन्त्र का अर्थ स्वयं कह रहा है कि मेरा विनियोग अग्नि प्रज्वलित करने में करना ठीक है। मन्त्रलिङ्ग ही इस कार्य का द्योतक है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ (१०-८५-४८) ॥

मन्त्र का अर्थ है—यहीं (इस घर में रहो), पृथक् न हो। अपने घर में धर्मानुसार आमोद करते हुए, पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए सम्पूर्ण आयु का उपभोग करो ॥

यह मन्त्र कितने स्पष्ट शब्दों में कह रहा है कि मेरा विनियोग पति-पत्नी अर्थात् दम्पति को उपदेश-आशीर्वाद देने में करो। तदनुसार विवाह संस्कार में इस मन्त्र का विनियोग किया जाता है।

ऋग्वेद मन्त्र का ही एक अन्य मन्त्र है—

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥१०-१७३-२॥

'राज्ञः स्तुति' दैवत इस मन्त्र के द्वारा राष्ट्रपति=राजा से कहा जा रहा है—'हे राजन्, इसी राष्ट्र में रहो, राष्ट्रोन्नति के कार्य से कभी अपच्युत न हो। पर्वत की न्याईं निश्चल और सूर्य की न्याईं ध्रुव इस राष्ट्र में ठहरो और राष्ट्र का धारण पोषण करो।'

उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ को पढ़ते ही कोई भी कह सकता है कि इस मन्त्र का विनियोग मन्त्रार्थ के अधीन है न कि मन्त्रार्थ विनियोग के अधीन ॥३९॥

विनियोग मन्त्रार्थ के अधीन है तो मन्त्रार्थ किसके अधीन है ? इसका उत्तर देते हैं—

देवतानुसृतो मन्त्रार्थः ॥४०॥

मन्त्र का अर्थ देवता के अनुसार होता है ।

देवतातत्त्व को जाने विना कोई व्यक्ति वेद को नहीं जान सकता । बृहद्देवताकार ने तो बलपूर्वक कहा है—**दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ।** अर्थात् दैवतज्ञ ही मन्त्रार्थ को जान सकता है । मन्त्रान्तर्भूता देवता—देवतातत्त्व को कहीं बाहर से खोजना नहीं पड़ता—वह तो मन्त्र में ही निहित होता है । उस अन्तर्हित तत्त्व को जान कर उसी के द्वारा ऋषि मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं । परन्तु इस स्वरूपस्थ देवता को ढूंढ निकालना अत्यन्त दुष्कर एवं श्रमसाध्य है । **तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा**—ऋग्वेद के इस मन्त्र (५-४४-१) के सन्दर्भ में दुर्गाचार्य ने लिखा है —"**स एव सर्वथाप्येवं दुरवधारदेवतो मन्त्रः** (नि.टी.पृ.१३१) अर्थात् इस मन्त्र के देवता का निश्चय करना अत्यन्त कठिन है । ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधव के शब्दों में **देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्**—देवतातत्त्व विज्ञान महान् तपःसाध्य है । इसीलिये हमने यास्काचार्य का अनुकरण करते हुए कहा है—**नानृषेरतपसो मन्त्रार्थप्रत्यक्षम् ।**

यदि किसी मन्त्र का देवता अग्नि है तो समझना चाहिये कि इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन है और ऐसा मान कर ही उस मन्त्र का अर्थ करना चाहिये । परन्तु निर्वचन के आधार पर अग्नि शब्द के कई अर्थ होते हैं । अतः अग्नि के विशेषणों तथा मन्त्र की अन्य परिस्थितियों से जान लेना चाहिये कि यहां अग्नि किस विशिष्ट अर्थ वा विषय का द्योतक है । इसी प्रकार ओषधिस्तुति दैवत मन्त्रों में चिकित्सा शास्त्र का, राजप्रजे दैवत मन्त्रों में राजनीति शास्त्र का दर्शन करके तदनुसार ही उन मन्त्रों के अर्थ होंगे ।

वस्तुतः मन्त्र का देवता पहचानना ही वेदज्ञता है । वेदों का जितना बड़ा कोई विद्वान् है उतना ही देवता के विषय में ठीक ठीक निर्णय करना उसके लिये संभव है । मन्त्र में निर्दिष्ट देवता का निश्चय करने के लिये यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैदिक शब्द आख्यातज अथवा यौगिक हैं । ऐसा न होने पर न देवता की पहचान हो सकेगी और न मन्त्र के वास्तविक अर्थ को जाना जा सकेगा । ऋग्वेद में कई (जैसे १०-१२५) सूक्त ऐसे हैं जिन्हें वागाम्भृणी देवता वाला कहा गया है । कात्यायन और सायण 'आम्भृण' नामक व्यक्ति की कन्या को वाक् बताते हैं । परन्तु इन मन्त्रों को पढ़ कर कोई यह विश्वास नहीं कर सकता कि ये मन्त्र किसी कन्या द्वारा रचे गये हैं और इन मन्त्रों में उसने अपने ही गुणों का वर्णन

किया है। यौगिक प्रक्रिया के अनुसार **वांक्** वाणी का नाम (निघण्टु १-११) और अम्भृण महान् के अर्थों में (निघण्टु ३-३ में) पढ़ा गया है। इस प्रकार **वागाम्भृणी** का अर्थ हुआ—ऊंची वाणी या ऊंचा घोष। सुतरां सूक्तगत मन्त्रों को भी पढ़ने से यही सिद्ध होता है कि इन मन्त्रों के द्वारा वेदवाणी का स्वामी परमात्मा अपने विषय में कुछ घोषणा कर रहा है ॥४०॥

अब 'देवता' का लक्षण करते हैं—

वर्ण्यविषयो देवता ॥४१॥

वर्ण्य विषय को देवता कहते हैं।

जिस मन्त्र में जिस विषय का वर्णन होता है वही उसका देवता कहलाता है सर्वानुक्रमणी में कहा है—**या तेनोच्यते सा देवता**। इन तीन पदों में **या** वस्तु के लिये है 'तेन' मन्त्र की ओर संकेत करता है और '**उच्यते**' क्रियापद है। इन तीनों को मिला कर अर्थ बनता है—जिस वस्तु को वह मन्त्र कहता है अर्थात् जिस वस्तुतत्त्व का वर्णन करता है वह वस्तुतत्त्व ही उसका देवता है। सर्वानुक्रमणी के देवता विषयक इस लक्षण की व्याख्या करते हुए षड्गुरुशिष्य ने **वेदार्थप्रदीपिका** में लिखा है—**तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता**।

शब्दों का समुदाय ही वाक्य कहलाता है। वह वाक्य अपने भीतर कोई अर्थ रखता है। उस वाक्य का कहने वाला अपने अभीष्ट भाव को प्रकट करने के लिये ही वाक्य का प्रयोग करता है। किन्तु यह भाव भी शब्दों के बिना प्रकट नहीं किया जा सकता। तथापि शब्दमय वाक्य अर्थ को प्रकट करने का साधन है। वास्तविक मूल्य शब्दों का नहीं, प्रत्युत उनके साध्य अथवा लक्ष्य अर्थ, भाव या प्रतिपाद्य वस्तु का है। इसलिए केवल संज्ञापद के आधार पर देवता का निश्चय नहीं किया जा सकता। संज्ञापद चिन्ह का काम भले ही दे, वह देवता नहीं हो सकता। देवता का निश्चय करने के लिए मन्त्रगत प्रतिपाद्य वस्तु को ही सामने रखना होगा। अर्थात्—देवता वही होगा जिसका मन्त्र में वर्णन होगा। उदाहरण के लिये ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १७३ को देखा जा सकता है। इस समस्त सूक्त का देवता **राजा** है, यद्यपि सूक्त भर के छः मन्त्रों में **राजा** पद केवल दो बार पढ़ा गया है, वह भी मुख्य संज्ञापद के रूप में नहीं, अपितु इन्द्र, वरुण आदि पदों के विशेषण के रूप में। परन्तु वर्ण्य विषय को ध्यान में रखते हुए कात्यायन ने **ध्रुवो राज्ञः स्तुतिः** और सायण ने **अभिषिक्तस्य राज्ञः स्तुतिरूपोऽर्थो देवता** लिखा है।

प्रतिपाद्य विषय होने से सूर्य देवता है तो रात्रि भी देवता है। वैद्य भी देवता है और औषधियां भी। इसी प्रकार रथ और सारथि, अन्न और अन्नाद, नदी और पर्वत, हल और किसान, पशु और पक्षी, अग्नि और जल, चन्द्रमा, स्त्री, पुरुष

और दम्पति—जो भी मन्त्र का वर्ण्य विषय है, अर्थात् जिस किसी के विषय में कुछ कहा गया है वे सब देवता हैं ।।४१।।

देवताओं को संख्या का विवेचन करते हैं—

अनन्ता वै देवताः ।।४२।।

देवता अनन्त हैं ।

देवता दो प्रकार के है—एक वे जो मन्त्रों के आरम्भ में देवता नाम से लिखे पढ़े जाते हैं और दूसरे वे जो प्रतिपाद्य विषय होने से मन्त्रों के अन्तर्गत देवता नाम से वर्णित हैं। पहली प्रकार के देवताओं की संख्या लगभग ४७८ मानी जाती है। परन्तु प्रतिपाद्य वस्तु अथवा वर्ण्य विषय के रूप में मन्त्रों के अन्दर वर्णन किये गये देवताओं की संख्या निश्चित करना प्रायः असंभव है। वेद मनुष्य के ज्ञान में आसकने वाले समस्त तत्त्वों—पदार्थों को देवता नाम से अभिहित करता है। ऐसे तत्त्व—पदार्थ लौकिक हों या अलौकिक, जड़ हों या चेतन, स्थावर हों या जंगम, निराकार हों या साकार, कारणरूप हों या कार्यरूप, आध्यात्मिक हों या आधिदैविक या आधिभौतिक, द्रव्यरूप हों या गुणरूप, मनुष्य हों या पशु-पक्षी-कीट-पतंग, भले हों या बुरे—प्रत्येक प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व का वर्णन वेद में मिलता है। यतः ऐसे पदार्थों—तत्त्वों की संख्या (वेद के सर्वज्ञानमय होने से) अनन्त है, अतः वेद के देवताओं की इयत्ता का निश्चय करना भी मानवशक्ति के बाहर है। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के शब्दों में "All that can form the subject of human knowledge, is Devatā."

अर्थात् जितने भी पदार्थों—तत्त्वों को मानवज्ञान का विषय बनाया जा सकता है, वे सब देवता हैं ।।४२।।

मन्त्र ईश्वरोक्त हैं, किन्तु मन्त्रदेवता ईश्वरोक्त न होकर मनुष्य द्वारा निर्धारित हैं। अतः वे नियत नहीं हैं। इसलिये कहा है—

यथाभिमतदेवतो मन्त्रः ।।४३।।

मन्त्र का देवता इच्छानुसार होता है।

समय समय पर जिन आचार्यों ने मन्त्रों के अर्थ पर विचार किया, यथामति उन मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय लोक के उपकारार्थ प्रकट कर दिया। पर उन्होंने सीमा नहीं बांध दी अर्थात् इयत्ता का अवधारण नहीं किया। जो देवता लिख दिये गये उनसे भिन्न देवता नहीं हो सकते, यह बात नहीं। वास्तव में किसी मन्त्र का कोई देवता निश्चित नहीं है। निरुक्त (१-२) में इस विषय में लिखा है—**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।** अर्थात् ऋषि लोग जिस अर्थ के प्रकाश करने की कामना करते हुए जिस देवता का वर्णन करते हैं, वही उस मन्त्र का देवता होता है। इस प्रकार एक ही मन्त्र से एक

दो या कई भाव निकाले जा सकते हैं और वे सभी भाव उस मन्त्र के देवता हो सकते हैं। वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—"**चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा...** (ऋ-४-५८-३)। महाभाष्यकार पतंजलि ने इस मन्त्र को **महान् देवः शब्दः** कह कर शब्द दैवत माना है। यास्क ने इसी मन्त्र का यज्ञपरक व्याख्यान (नि. १३-७) करते हुए एष हि महान् देवो **यद्यज्ञः** कह कर इसे **याज्ञदैवत** माना है। सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता में अग्नि, सूर्य, गव्य आदि को इस मन्त्र का देवता माना है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्ग के मत में **कामतो देवताः कल्प्याः** (पृ.७२८) इच्छानुसार देवता की कल्पना कर लेनी चाहिये। तथापि स्कन्द स्वामी का कथन है—**नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुम्** (नि.भा. पृ.१०८) अर्थात् निरुक्त को जानने वाला देवता को जान सकता है। स्कन्द के मत में भी देवता नियत नहीं। क्योंकि यदि नियत होते तो किसी भी शास्त्र से जानने की बात न बनती। परन्तु नियत न होने पर भी स्कन्द यह आवश्यक समझते हैं कि देवता का ज्ञान यदृच्छया नहीं, निरुक्त शास्त्र के आधार पर करना चाहिये।

जब यह निश्चय है कि मन्त्र में वर्णित विषय ही उसका देवता है तो यह देखना होगा कि कोई देवता मन्त्रार्थ के अनुकूल है या नहीं। यदि प्रतिकूल जान पड़े तो उसे यथार्थ रूप में कर देना, बदलना नहीं अपितु उलटे को उलटा कर सीधा या ठीक करना है। उव्वट यजुर्वेद भाष्य को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दांसि च यत्॥

अर्थात् मैं अपने गुरु की शिक्षानुसार, अपनी तर्कबुद्धि के भरोसे और शतपथ ब्राह्मण की सहायता से ही ऋषि, देवता और छन्द का निश्चय करुँगा। उव्वट भाष्य के इस लेख से स्पष्ट है कि केवल शास्त्र के आधार पर ही नहीं अपितु गुरु-परम्परा और तर्क से भी ऋषि, देवता आदि की कल्पना की जा सकती है। जो बात उव्वट ने कही वही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की। जब वैदिक वाङ्मय के गंभीर अध्ययन से दयानन्द को निश्चय हो गया कि मन्त्रार्थ अर्थात् मन्त्र द्वारा प्रतिपाद्य वस्तुतत्त्व ही वास्तविक देवता है और उनके संज्ञापद चिन्हमात्र हैं तब उनका कर्त्तव्य था कि देखें कि साम्प्रदायिक आचार्यों ने जो देवता निश्चित किये हैं वे इस सिद्धान्त के अनुकूल हैं या नहीं। वैसा न होने पर प्रतिपाद्य विषय के अनुसार देवता निश्चय करना उनका धर्म था। इसीलिये उन्होंने यत्र तत्र मन्त्रों के अर्थ करने में प्रचलित देवता की उपेक्षा कर दी। परन्तु इसका आधार भी आर्ष ग्रन्थ ही हैं स्वामी जी की अपनी कल्पना नहीं॥४३॥

अगले कतिपय सूत्रों में मन्त्रों का वर्गीकरण करके उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

सर्ववेदेष्वृचस्त्रिविधाः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ।।४४।।

सब वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं— परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत, तथा आध्यात्मिक।

सत्य विद्याओं के प्रकाशक होने से वेद मन्त्र ऋच् या ऋचा कहलाते हैं। वे मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं। कोई परोक्ष रूप में अर्थ का प्रकाश करते हैं और कोई प्रत्यक्ष रूप में किसी अर्थ को कहते हैं। कुछ मन्त्र ऐसे भी होते हैं जो जीवात्मा या परमात्मा को अधिकृत करके उनका प्रतिपादन करते हैं। ये क्रमशः परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक कहलाते हैं ।।४४।।

तत्र परोक्षकृताः प्रथमपुरुषयोगाः परोक्षार्थाः ।।४५।।

परोक्ष अर्थ को कहने वाले 'परोक्षकृत' मन्त्रों में प्रथमपुरुषवाचक सर्वनाम 'सः' (वह) आदि का और क्रियाओं में अस्ति, भवति, करोति आदि का प्रयोग होता है। जड़ पदार्थों के लिये साधारणतया प्रथम पुरुष का ही प्रयोग होता है। परोक्षकृत ऋचा का उदाहरण है—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।।

ऋ० १०-८०-१०

परमेश्वर द्युलोक का स्वामी है, परमेश्वर पृथिवीलोक का स्वामी है, परमेश्वर जल का स्वामी है, परमेश्वर पर्वतों का अधिपति है, परमेश्वर महान् से महान् आत्माओं का राजा है और परमेश्वर ही मेधासम्पन्न मनुष्यों का शासक है। वह परमेश्वर प्राप्त वस्तु के संरक्षण के लिये प्रार्थनीय है और वही परमेश्वर अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये आवाहन किये जाने योग्य है ।।४५।।

प्रत्यक्षकृताः मध्यमपुरुषयोगाः प्रत्यक्षार्थाः ।।४६।।

प्रत्यक्ष अर्थ को कहने वाले 'प्रत्यक्षकृत' मन्त्रों में मध्यमपुरुष वाचक सर्वनाम 'त्वम्' आदि का और उनकी क्रियाओं में असि, भवसि, करोषि आदि का प्रयोग होता है। प्रायः चेतन पदार्थों के लिए मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है। परन्तु जड़ पदार्थ भी यदि प्रत्यक्ष हों तो निरुक्तकार के मत से कभी कभी उनके लिये भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। वेद में ऐसा संवाद शैली के कारण होता है। तथापि जड़ पदार्थों का यह प्रत्यक्ष मात्र औपचारिक होता है और लक्षणा से उनके समुचित उपयोग का संकेत करता है। इस रहस्य को न समझने के कारण अनेक वेदभाष्यकार वेदों में सूर्यादि जड़ पदार्थों की पूजा का विधान बताने लगते हैं। प्रत्यक्षकृत ऋचा का उदाहरण है—

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः । त्वं वृषन्वृषेदसि ।।१०-१५३-२।।

हे परमेश्वर ! तू बल से उत्पन्न हुआ है अर्थात् तू बल स्वरूप है। हे पर-

मेश्वर तू साहस का भण्डार है और हे जगदीश्वर ! तू ओजोमय है । हे वृष्टिकर्त्ता ! तू वास्तव में सुखों की वर्षा करने वाला है ॥४६॥

आध्यात्मिक्यश्चोत्तमपुरुषयोगा अध्यात्मप्रतिपादकाः ॥४७॥

अध्यात्म अर्थ को कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष वाचक सर्वनाम 'अहम्' और क्रियाओं में अस्मि, भवामि, करोमि आदि का प्रयोग होता है । उत्तमपुरुष का प्रयोग केवल चेतन पदार्थों के लिये होता है । उदाहरणार्थ—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

ऋ० १०।४८-१॥

हे मनुष्यो ! मैं सनातन परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् का स्वामी हूँ । मैं अन्य सनातन जीवात्माओं और प्रकृति का तथा सब धर्मों का अर्थात् कार्य जगत् का विजय करता हूँ। सब जीव मुझे पिता की तरह पुकारते हैं । मैं सबको सुख देने वाले मनुष्य को उत्तमोत्तम भोग्य सामग्री प्रदान करता हूँ ।

यह परमात्मपरक मन्त्र का उदाहरण है । एक उदाहरण जीवात्मपरक मन्त्र का भी प्रस्तुत करते है । यहां मन्त्रार्थ को देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि इसका देवता आत्मस्तुति है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति । कुवित्सोमस्यापामिति ॥

१०-११९-१॥

सर्वमेध यज्ञ करने का इच्छुक व्यक्ति अपने संकल्प को व्यक्त करता हुआ कहता है—'मेरा संकल्प इस प्रकार का है कि मैं गाय घोड़ा आदि अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान कर दूं क्योंकि मैंने योगैश्वर्य का भरपूर पान कर लिया है ॥४७॥

अब वेदार्थ विषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार निश्चित उन कसौटियों का निरूपण करते हैं जिन पर खरा उतरने पर ही किसी वेदभाष्य को प्रामाणिक माना जाना चाहिये । यदि वेद मन्त्रों के अर्थ तदनुकूल नहीं है तो यही कहना होगा कि वेद का वह अर्थ ठीक नहीं है—

सत्यार्थनिकषः यौगिकप्रक्रियानुरोधेन निर्वचनम् ॥४८॥

वेदार्थ के ठीक होने की कसौटी है, यौगिक प्रक्रियानुसार निर्वचन ।

यतः वेद के सभी शब्द प्रातिपदिक=धातुज हैं, अतः धात्वर्थ के आधार पर यौगिक प्रक्रिया से ही वेद के ठीक ठीक अर्थों को जाना जा सकता है । निर्वचन के आधार पर प्रकरणानुसारी अर्थों का निरूपण नैरुक्त प्रक्रिया के बिना संभव नहीं । वेद के शब्दों को रूढि मान कर लौकिक संस्कृत के साधारण कोशों की सहायता से वेदों के सत्यार्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता ॥४८॥

अपौरुषेयत्वोपपादनम् ।।४९।।

अपौरुषेयत्व सिद्ध होने से ।

वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है । वह स्वयंभू कवि का अजर अमर काव्य है, देवाधिदेव की दैवी वाक् तथा ब्रह्म द्वारा निःश्वसित शब्द है । अतः वेद के अपौरुषेयत्व को प्रमाणित करने वाला वेदभाष्य ही ठीक माना जायेगा ।।४९।।

ईश्वरस्य याथातथ्यतः स्वरूपाभिधानम् ।।५०।।

ईश्वर के स्वरूप का यथायथ वर्णन ।

यतः वेद ईश्वरीय कृति है, उसमें अपने रचयिता का वर्णन वैसा ही होना चाहिये जैसा वह है । ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, निर्विकार, अजन्मा, अजर, अमर और सर्वशक्तिमान् है । यदि वेद मन्त्रों के अर्थों से वह अन्यथा सिद्ध होता है अर्थात् यदि वह मनुष्यों की भांति जन्म-मरण के बंधन में पड़ने वाला, सुख-दुःख से प्रभावित, संयोग-वियोग-जन्य परिस्थितियों से प्रताड़ित, भूख प्यास से दुःखी, अपनी कार्यसिद्धि के लिये परमुखापेक्षी आदि प्रमाणित होता है तो निश्चय ही ऐसा अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।।५०।।

सृष्टिक्रमाविरोधः ।।५१।।

सृष्टिक्रम के विरुद्ध न होना ।

वेद और सृष्टि दोनों एक ही ईश्वर की रचना हैं । अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता । यदि वेदमन्त्रों का अर्थ ऐसा किया जाता है कि उससे वेद में सृष्टिक्रम के विरुद्ध कोई बातें दीख पड़ती हैं तो वह अर्थ **वदतोव्याघात** का निदर्शन होगा ।।५१।।

सार्वभौमनियमप्रतिपादनम् ।।५२।।

सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन ।

वेद सार्वभौम, सर्वजनोपयोगी नियमों का प्रतिपादक है । जो बातें सबको अनुकूल, सबमें सत्य, जिनको सब सदा से मानते आये हैं और आगे भी मानते रहेंगे, जो प्राणिमात्र के लिये हितकर हैं—ऐसे सर्वतन्त्र सर्वमान्य सिद्धान्तों का ही वेद में प्रतिपादन है । **यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः** (यजुः४०-७), **स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य.** (अ.१-३१-४) इत्यादि वेदवचनों से इस मान्यता की पुष्टि होती है । ऐसी अवस्था में वेदों में पशुहिंसा, मांसभक्षण, सुरापान, अश्लीलता आदि का उल्लेख नहीं हो सकता । वेद का प्रत्येक मन्त्र किसी न किसी जातिदेशकालसमयावच्छिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादक है । यदि वेद का कोई अर्थ इस मान्यता के विपरीत पड़ता है तो वह माननीय नहीं हो सकता ।।५२।।

इतिवृत्ताभावः ।।५३।।
इतिहास का न होना ।

कुछ नामों को देख कर आपाततः वेद में इतिहास का भ्रम हो जाता है। ऐसा वेद के शब्दों को रूढि मान बैठने से होता है जबकि वास्तव में वे सभी आचार्यों के मत में यौगिक हैं। वेद में अनित्य इतिहास अर्थात् किसी व्यक्ति या जाति विशेष का उल्लेख नहीं है। ऐसा होने पर वेद की उत्पत्ति उनके पीछे माननी पड़ेगी और तब न केवल वेद की नित्यता नहीं रहेगी, अपितु ईश्वर में पक्षपात की भी सिद्धि होगी। क्योंकि वेदोत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न मनुष्य भगवान् की कल्याण-कारिणी वाणी के लाभ से वंचित रह गये माने जायेंगे। इसलिए जिस वेदार्थ से वेद में लौकिक इतिहास का संकेत मिलेगा वह वेद की मूलभावना का द्योतक नहीं होगा ।।५३।।

विप्रतिषेधाभावः ।।५४।।
विप्रतिषेध का न होना ।

वेद भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित निर्भ्रान्त ईश्वर की वाणी है। उनमें यत्र-तत्र परस्पर विरोधी वचन नहीं हो सकते। अतः वेद के अर्थ में किसी विप्रतिषिद्धता की संभावना नहीं हो सकती। यदि किसी वेदभाष्य में ऐसी बातें मिलती हैं जो एक दूसरे को काटती हैं तो निश्चय ही वह भाष्य दूषित है।।५४।।

देवतानुसृतार्थः ।।५५।।
देवता के अनुसार अर्थ का होना ।

मन्त्र का प्रतिपाद्य अर्थात् वर्ण्य विषय उसका देवता होता है। उसी को लक्ष्य कर यौगिक प्रक्रिया के आधार पर वेदमन्त्र का ठीक ठीक अर्थ करना संभव है। अन्यथा अंधेरे में लाठी चलाना है और अंधेरे में लाठी चलाने की उपलब्धि शून्य होती है। अतः देवता का निश्चय करके तदनुसार किया गया अर्थ ही ठीक होगा ।।५५।।

सर्वज्ञानोपलब्धिः ।।५६।।
सम्पूर्ण ज्ञान का उपलब्ध होना ।

सर्वज्ञानमयो हि सः—वेद समस्त विद्याओं का मूल है, यह बात सर्वसम्मत है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थविज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र आदि विषयों के सभी मुख्य ग्रन्थ अपने अपने विषयों के वेदमूलक होने की घोषणा करते हैं। इस प्रकार वेद प्राणिमात्र के लिये अपेक्षित पूर्णज्ञान का भण्डार है। मानव जीवन के सब अंगों—व्यष्टि एवं समष्टि पर प्रकाश डालता है। जिस वेदार्थ से इस बात की पुष्टि नहीं होती वह वेद के वेदत्व का विघात करेगा ।।५६।।

त्रिविधार्थनिदर्शनम् ।।५७।।
त्रिविध अर्थों का ज्ञान होना ।

वेद में आये नामों के धातुज होने, धातुओं के अनेकार्थक होने तथा वेद के सर्वज्ञानमय होने से वेदमन्त्र विविध अर्थों का प्रकाश करने में समर्थ हैं। अतः वेदमन्त्रों के आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी अर्थ होने चाहियें । ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने निरुक्त का प्रमाण (नि.भा. ७-४) देकर कहा है कि यास्कमुनि के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होना चाहिये । स्वामी दयानन्द ने मन्त्रों की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक व्याख्या का भी विधान किया है जिसका समावेश अन्ततः त्रिविधप्रक्रियानुसारी अर्थों में हो जाता है । प्रकरणादि के अनुसार मन्त्रों के सभी संभव अर्थों का निरूपण होना चाहिये ।।५७।।

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिरित्युपपत्तिः ।।५८।।
(वेद में) बुद्धिपूर्वक वाक्यरचना होने की सिद्धि ।

वैशेषिक दर्शन (६-१-१) के अनुसार बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे—वेद का एक एक वाक्य शब्द और अक्षर बुद्धिपूर्वक उक्त हैं । तर्क के विरुद्ध वेद में कुछ नहीं हो सकता । वेद का कोई मन्त्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता । अतः सर्वज्ञ ब्रह्म की दिव्य वाणी वेद में कुछ भी तर्क विरुद्ध जान पड़ता है तो उसके अर्थ में दोष होगा, न कि वेद में । ऐसा अर्थ कदापि मान्य नहीं हो सकता ।।५८।।

पारोवर्यविदनुगमनम् ।।५६।।
परम्परा के अनुकूल होना ।

यास्क आदि निरुक्तकारों, पाणिनि आदि वैयाकरणों, ब्राह्मणग्रन्थ आदि के रचयिताओं, सांख्य-वैशेषिक आदि दर्शनों के प्रणेताओं तथा अन्य ऋषियों की वेदार्थ विषयक धारणाओं के अनुकूल होने से ही वेदभाष्य की प्रामाणिकता होगी ।।५६।।

गौरवाभिवर्धनम् ।।६०।।
(वेद का) गौरव बढ़ना ।

सृष्टि के आदिकाल से आज तक इस देश के ऋषि-मुनियों, आचार्यों तथा देशदेशान्तर के मनीषियों का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि वेद मानवमात्र के कल्याणार्थ अपेक्षित पवित्र ज्ञान का भण्डार है और समस्त विद्याओं तथा विज्ञानों का मूल है । वेद के जिस अर्थ से इस भावना को बल नहीं मिलता वह वेद के यथार्थ स्वरूप को दर्शन कराने में असमर्थ होने से त्याज्य है। इसके विपरीत जिन अर्थों को पढ़ कर वेद के प्रति श्रद्धा और आस्था बढ़े वे ग्राह्य हैं ।।६०।।

षष्ठ अध्याय

वेद में इतिहास

ओपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात् ॥१॥

मन्त्रों में आख्यान (इतिहास) का सिद्धान्त औपचारिक है, (अन्यथा) नित्यत्व का विरोध होने से।

यौगिक प्रक्रियानुसार अर्थ होने पर वेद का कोई भी शब्द व्यक्ति अथवा स्थान विशेष का वाचक नहीं रहता। जहां ऐसा प्रतीत होता है, वस्तुतः वहां प्राकृतिक जगत् के कारण तथा कार्यरूप तत्त्वों का औपचारिक वा आलंकारिक वर्णन होता है। ऐसा न मानने का परिणाम क्या होगा—यह मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति, इतिहासे च विधौ सति आदिमत्तादोषो वेदे प्रसज्येत।

अर्थात् यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है (वास्तव में है नहीं) यदि इतिहास माना जाये तो वेद को सादि अथवा अनित्य मानना होगा।

निरुक्त के भाष्यकारों ने ऐतिहासिक पक्ष का औपचारिकत्व (गौणत्व) सूर्य की भांति स्पष्ट कर दिया है। सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्त टीका (भाग दो पृष्ठ ७८) में लिखा—

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या एष शास्त्रे सिद्धान्तः औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम् ॥

अर्थात्—इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रों में आख्यान=इतिहास का वर्णन किया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में आख्यान=इतिहास का सिद्धान्त औपचारिक अथवा गौण है। वास्तव में तो नित्यपक्ष ही मन्त्रों का विषय है।

परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम् कह कर स्कन्द ने इस विषय में निरुक्तशास्त्र का ही सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया है। इतना ही नहीं, इस सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने देवापि और शन्तनु को विद्युत् और जल बता कर इन मन्त्रों या उस सूक्त की संगति लगा कर भी दिखा दी है।

स्कन्द के भी पूर्ववर्त्ती माने जाने वाले वररुचि ने स्कन्द के मत का समर्थन करते हुए अपने **निरुक्तसमुच्चय** (पृष्ठ ७१) में लगभग उन्हीं शब्दों में कहा—

"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात् । परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्ताः ।"

अर्थात् मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि ऐसा (वेद में इतिहास) मानने से वेद के नित्यत्व का विरोध हो जायेगा । परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही ठीक है ।

कुमारिलभट्ट ने भी तन्त्रवार्त्तिक में अनेकत्र इस सिद्धान्त की पुष्टि की है । दुर्ग ने भी अपनी निरुक्तटीका (पृ. ७४४) में इसी मत का प्रतिपादन किया है । आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ सुश्रुत (सूत्रस्थान प्र. ५) में लिखा है—

"यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः । ...रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानम् ।।

इन सब **प्रमाणों से** सिद्धान्तरूप में ऐतिहासिक पक्ष का औपचारिकत्व (गौणत्व) सूर्य के प्रकाश की भांति सिद्ध है ।।१।।

औपचारिक रूप से कथित आख्यानों की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं—

प्ररोचनार्थमाख्यानम् ।।२।।

रोचक बनाने के लिए आख्यान होते हैं ।

जब रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द पड़ने लगी तो ऋषियों ने मन्त्रगत गूढतत्त्वों को समझाने के लिये मन्त्रगत पदों के आश्रय से तद्विषयक आख्यायिकाओं की कल्पना की । जैसे व्याख्यानों में जनता को समझाने के लिये कल्पित रोचक कथाओं द्वारा किसी गंभीर बात को स्पष्ट किया जाता है वैसे ही वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिये ब्राह्मणों तथा पुराणों में वेदार्थानुकूल रोचक कथाओं की कल्पना करना आवश्यक समझा गया । इसी भाव से भगवान् वेदव्यास ने **इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्** में **समुपबृंहयेत्** पद का निर्देश किया है ।

यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व 'अत्रेतिहासमाचक्षते' अथवा काल्पनिक इतिहास या आख्यायिका लिखने का प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।।" निरुक्त १०-१० ।।

अर्थात्—मन्त्रार्थद्रष्टा कवि की स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिये उसे कथा से संयुक्त करने में प्रीति होती है । वेद के सन्दर्भ में 'इतिहास' का लक्षण बताते हुए दुर्ग ने अपनी निरुक्त टीका (१०-२६) में लिखा—

यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्ट्यु दितार्थविभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते ।

अर्थात् जो कोई भी आधिदैविक, आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक अर्थ भाग्य से बुद्धि में उत्पन्न हुआ, उसे प्रकट करने के लिये जो कथन होता है वह इतिहास कहलाता है। स्पष्ट है कि यहाँ प्रयुक्त इतिहास पद किसी वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वाचक नहीं है।

पहले वेदमन्त्रों के अन्तर्गत संज्ञापदों की व्यक्तिगत संज्ञा के रूप में कल्पना करके व्याख्या ग्रन्थों में भूमिका की कल्पना की गई। फिर उस कल्पित भूमिका के आधार पर वेद से भिन्न कुछ नामों को जोड़ कर छोटे छोटे कथानक बने और कालान्तर में उन्हीं कथानकों को वास्तविक घटना या इनिहास का नाम दिया गया। इस प्रकार रोचकता उत्पन्न करने के लिये की गई कल्पना को वास्तविक मान लिया गया। कालान्तर में लोग मन्त्रों के आधार पर आख्यान की कल्पना न करके आख्यानों के आधार पर वेदमन्त्रों का बनाया जाना मानने लगे। यह सारा प्रसंग एक कहानी को स्मरण करके स्पष्ट हो जाता है जो प्रायः लोगों ने अपनी दादी-नानी से सुन रखी है। संक्षेप में कहानी इस प्रकार है—

"एक बुढ़िया के दो बेटे थे। एक माँ का आज्ञाकारी था और उसकी सेवा करता था। दूसरा उद्दण्ड था और माँ को सदा तंग करता रहता था। माँ ने आज्ञाकारी बेटे को आशीर्वाद दिया कि तू सदा ठण्डे ठण्डे आयेगा और ठण्डे ठण्डे जायेगा। दूसरे को दुःखी होकर शाप दिया कि तू सदा जलता जलता आयेगा और जलता जलता जायेगा। माँ के आशीर्वाद से पहला बेटा चन्द्रमा बन गया और दूसरा उसके शाप से सूर्य बन गया।"

कहानी सुन कर ऐसा लगता है कि उस बुढ़िया के बेटों से ही सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। उससे पहले संसार में न सूर्य था और न चन्द्रमा, पर वह बुढ़िया और उसके बेटे अवश्य थे। कौन तैयार होगा इस बात को सत्य मानने या इसे वास्तविक ऐतिहासिक घटना मानने के लिये। सब यही कहेंगे कि यह तो हितोपदेश की तरह बच्चों को शिक्षा देने के लिये बनाई गई कहानी है। वर्त्तमान में व्याख्यानों में दृष्टान्तबहुल (कभी कभी मर्यादा से बढ़ कर) शैली के अवलम्बन और उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता का यही कारण है। वेद के व्याख्या ग्रन्थों में कहे गये आख्यानों का यही स्वरूप है। इसे न समझ कर ही वेदों में इतिहास की कल्पना करली गई।

यास्क वेदगत किसी शब्द के तत्त्वार्थ को समझाने के लिये, उस तत्त्वज्ञान को अपने जीवन में ढाले हुए किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम प्रस्तुत कर देते हैं।

उस व्यक्ति का वह नाम ठीक-ठीक अन्वर्थक होने से वेदमन्त्र के उस शब्द का गूढ़ार्थ अध्येताओं को सरलता से हृदयंगम हो जाता है। इस शैली का निर्देश भागवत पुराण में इस प्रकार किया है—**भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।** अर्थात् भारतेतिहास के बहाने वेद का ही अर्थ प्रदर्शित किया गया है ॥२॥

वेदों में अनेकत्र युद्धों का वर्णन मिलता है। ऐसे युद्धों का रहस्य क्या है, इसे अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं —

उपमार्थं युद्धवर्णनम् ॥३॥

उपमारूप में युद्ध का वर्णन होता है।

आपाततः ऐतिहासिक घटना जान पड़ने वाले ऐसे प्रकरणों में उपमा घटाने के निमित्त से मन्त्रों में युद्धों के रूपक होते हैं। इन्द्र और वृत्त का युद्ध बड़ा प्रसिद्ध है। इसे प्रायः देवासुरसंग्राम के रूप में एक ऐतिहासिक घटना माना जाता है। परन्तु जब हम स्मरण करते हैं कि वेद के शब्द तो यौगिक हैं तो उसकी वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। ऋग्वेद (१-३२-१०) में रूपकालंकार से वर्षा-कालीन मेघ का वर्णन किया है। निरुक्त (२-१६) में इन्द्र-वृत्र प्रतिपादक उस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यास्क लिखते हैं—

अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

अर्थात् मेघस्थजल के साथ विद्युत् का संबन्ध होने से वर्षा होती है। वेद में एतद्विषयक जो इन्द्र-वृत्र युद्ध का वर्णन है, वह उपमारूप से है। यास्क कहते हैं—

विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः"।

अर्थात् मेघ (अहि) शरीर को बढ़ा कर जल के स्रोतों को रोक लेता है। उसके हत (नष्ट) होने पर जल गिर पड़ते हैं। इसी बात को अगले (ऋ.१-३२-११) मन्त्र में काव्यात्मक भाषा में इस प्रकार कहा है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥

मेघ से छिपाया हुआ दुष्कालनाशक जल रुका हुआ था जैसे बनिया गायों को बाड़े में रोके रखता है। तब मेघ को मारते हुए इन्द्र अर्थात् विद्युत् ने जल को रोक रखने वाले द्वार को खोल दिया और वर्षा होने लगी।

वस्तुतः मेघ का नाम वृत्र है और विद्युत् का इन्द्र। जब विद्युत्-रूपी वज्र मेघ पर प्रहार करता है तो मेघरूपी शत्रु छिन्नभिन्न होकर वृष्टि-जल के रूप में पृथिवी तल पर आ गिरता है।

इन्द्र-वृत्र युद्ध का यह वर्णन ब्राह्मणों में भी मिलता है—वेद के व्याख्यारूप ग्रन्थ होने से। वहां भी वृत्र की भांति अहि को इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी कहा है। सुप्रसिद्ध देवासुरसंग्राम को कोई वेदों में उपमारूप से वर्णित देवासुरसंग्राम न समझ बैठे, इस भ्रान्ति के निवारणार्थ शतपथ ब्राह्मण ने कह दिया—

तस्मादाहुः—नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वद् उद्यत इतिहासे त्वत्। शत.११-१-६-६॥

वेद का यह इतिहास कैसा है, इसका स्पष्ट ज्ञान ऋग्वेद (१-५४-६) पर स्कन्दभाष्य में उद्धृत एक इतिहास से होता है। यथा—

अत्रेतिहासमाचक्षते। संग्रामे असुराः सूर्यस्य रथं भङ्क्तुमैच्छन्, अश्वं चापहर्तुम्। ताविन्द्रो रक्षितवान् इति॥

यह संग्राम अन्तरिक्ष में हुआ। उसमें सूर्य के रथ और घोड़े की रक्षा इन्द्र ने की। ये सब आधिदैविक हैं। वेद के कथनों के इन सूक्ष्म रहस्यों को न समझने के कारण ही लोग वेद में इतिहास की कल्पना कर बैठते हैं॥३॥

वेदों में अनेकत्र जड़ पदार्थों के सन्दर्भ में इस प्रकार की बातें देखने में आती हैं जैसे वे कोई चेतन सत्ता है और इस प्रकार वहां जड़ अथवा प्राकृतिक पदार्थों की पूजा आदि का भ्रम होने लगता है। ऐसा काव्यात्मक शैली और उसमें निहित भावसौन्दर्य को न समझ पाने के कारण होता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित इस प्रकार के वचनों का स्पष्टीकरण करने के लिये कहा—

अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः रूपकमात्रं मुख्यार्थस्यासम्भवात्॥४॥

अचेतनों में चेतन के समान व्यवहार रूपकमात्र है, मुख्यार्थ के संभव न होने से।

जड़ पदार्थों का चेतन की भांति वर्णन करना, धूर्त मनुष्य को लोमड़ी, सीधे व्यक्ति को गौ, मूर्ख को गधा तथा विश्वासघाती मित्र को आस्तीन का सांप कहना वस्तुतः आरोपिक वर्णन है। प्रकृति जड़ होने से कभी किसी को नहीं बुलाती तथापि जड़ प्रकृति में बुलाने वाले का आरोप करके अंगरेज़ी में शौच जाने के लिये to answer the call of nature शब्दों का प्रयोग किया जाता है। **मञ्चाः क्रोशन्ति** (मंच पुकारते हैं), 'नद्यां गृहम्' (नदी में घर) आदि संस्कृत में प्रसिद्ध उक्तियां हैं। परन्तु न मंच पुकारते हैं और न नदी के भीतर घर हो सकता है। परन्तु **मुख्यार्थबाधे लक्षणा**—जहां मुख्य (अभिधा) अर्थ संभव नहीं वहां लक्षणा से लक्ष्यार्थ अभीष्ट होता है। तब **मञ्चाः क्रोशन्ति** का अर्थ **मञ्चस्थपुरुषाः क्रोशन्ति** तथा **नद्यां गृहम्** का अर्थ **नद्याः तीरे गृहम्** बन जाता है। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए। मुण्डन संस्कार के अवसर पर जब बालक का पिता उस्तरे को संबोधित करके कहता है—**स्वधिते मैनं हिंसीः** तो वह मंचाः क्रोशन्ति की भांति उस्तरे में चेतनता का आरोप करके वास्तव में उस्तरे से नहीं, उस्तरा लिये हुए नाई से बात करता है।

प्रकृत विषय में शबरस्वामी ने अपने मीमांसाभाष्य (पृ. १५५-५६) में लिखा—

नदीति नद्याः स्तुतिः। यज्ञसमृद्धये साधनानां चेतनसादृश्यमुपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति। ओषधे त्रायस्वैनम् इति। शृणोत ग्रावाण इति।

यत्राचेतनाः सन्तो ग्रावाणोऽयि शृणुयुः किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणा इति॥

अर्थात् वेद में चेतनों के सादृश्य से, अचेतनों में चेतनवद् व्यवहार होता है संबोधन आमन्त्रण आदि होने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये चेतन हो गये।

संस्कृत का एक कवि चन्दन के वृक्ष को सुना कर कहता है—

लोकानन्दनचन्दनद्रुमसखे ! नास्मिन् वने स्थीयताम्।
दुर्वंशैः परुषैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद् वनम्॥

चन्दन का वृक्ष न किसी की बात सुनता और न कुछ अनुभव करता है। उसके माध्यम से किसी भले पुरुष को दुष्ट जनों के स्वभाव से परिचित कराकर उनसे दूर हो जाने की प्रेरणा करना ही कवि को अभिप्रेत है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र (६-४५-१) में इस प्रकार के आरोप का अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण उदाहरण मिलता है। मन में पापभावना उदय होने पर कोई सत्यसंकल्प व्यवित उसे किस प्रकार मार भगाये—यह बताने के लिये मन्त्र में कहा गया है—

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
वृक्षं वनानि सञ्चर गृहेषु गोषु मे मनः॥

अये मन की पापवासना ! दूर हो। क्यों तू मेरे सामने निन्दनीय कामों की प्रशंसा कर रही है। परे हठ, मैं तुझे नहीं चाहता। मेरा मन तो घरेलू कामकाज में और सद्विचारों में रम रहा है। जा, कहीं जंगल में जाकर अपना शिकार ढूँढ॥

पापभावना चेतन नहीं है, पर उस भावना को प्रश्रय देने वाला स्वयं चेतन है। इसलिये वह उसे चेतन के रूप में संबोधित करके अपने शिव संकल्प को और सुदृढ़ करने के लिये अपना मनोभाव प्रकट कर रहा है॥४॥

जो कभी नहीं हुआ उसकी कल्पना भी की जाती है ? इस विषय में कहा है—

असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं गुणवादः॥५॥
जो नहीं हुआ, उसका अन्वाख्यान गुणवाद है।

जो वास्तव में कभी नहीं हुआ उसे कल्पना के द्वारा दिया आख्यान का रूप स्तुति द्वारा प्रशंसा के अभिप्राय से होता है। शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ

कर्मों से विरत करने के लिये इस प्रकार के कथानकों की सृष्टि की जाती है। परन्तु वहां भी जिन नामों का उल्लेख होता है वे व्यक्ति विशेष न हो कर नित्य पदार्थों के ही वाचक होते हैं। मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी ने इस सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए लिखा—

ननूक्तमसंवादो वेदे गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे। गौणत्वात् संवादः। किं सादृश्यम् ? यथान्नं प्रीतेः साधनमेवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना प्रीतिसाधनशब्देनोच्यते। मी.भा. १-२-२२॥

अर्थात्— वेद में जो संवाद कहा जाता है वह गुणवाद से प्ररोचना के लिये है। संवाद गौणता से है। जिस प्रकार अन्न प्रीति का कारण होता है उसी प्रकार संवाद भी प्रीति के साधनों की शक्ति से युक्त (पदार्थ) की प्रशंसा के निमित्त, प्रीति के साधन प्रशंसावाची शब्दों के द्वारा कहा जाता है।

इस विषय में तन्त्रवार्त्तिक में कुमारिलभट्ट का यह कथन भी द्रष्टव्य है—

अर्थवादकृताप्यर्थप्रतिपत्तिर्बलीयसी।
तद् ग्राह्यत्वादृते नान्यत्तस्या ह्यस्ति प्रयोजनम्॥ पृ० २२३॥

अर्थात् अर्थवाद से भी अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। अर्थ को ग्रहण कराना ही उसका प्रयोजन होता है॥५॥

आख्यानों के कारण नित्य में अनित्य की प्रतीति होती है—

नित्यवाक्यार्थप्रतिपत्तौ आर्षेयानामनित्यवदाभासः॥६॥

नित्यवाक्यार्थ के ज्ञान में ऋषियों संबन्धी आख्यान अनित्य जैसे प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार कोई व्याख्याता किन्हीं पदों को चेतन के सदृश आरोपित करके अपने विषय का निरूपण करता है उसी प्रकार ऋषि तथा तत्संबन्धी आर्षेय उपाख्यानादि की कल्पना की जाती है। आपाततः देखने पर इनके अनित्य होने का भ्रम होता है। वस्तुतः वे नित्य होते हैं। लोक में इन्द्र और अहल्या के परस्पर व्यभिचार में प्रवृत्त होने और तदनन्तर इन्द्र द्वारा अपनी पुत्री में गर्भाधान करने की कथा का पर्याप्त प्रचार हुआ है। जैसा कि अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है, वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। ऐसा न समझना ही सब अनर्थों का मूल है। विश्व प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने अपने महान् ग्रन्थ तन्त्रवार्त्तिक में इस कथा का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते। स चारुणोदयवेलायामुषसमुद्यन्नभ्यैत्, सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते' तस्यां चारुणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषवदुपचारः। एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेन्द्रपदवाच्यः सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मक-

जरणहेतुत्वाज् जीर्यत्यस्मादनेनेवोदितेनेत्यादित्य एवाहल्याजार इत्युच्यते न तु परस्त्री-व्यभिचारात् ॥

मी. १-३-७, तन्त्रवार्त्तिक पृ.२०७॥

इस उद्धरण के अन्तिम शब्दों से स्पष्ट है कि यहां व्यभिचार की कोई बात नहीं है। वास्तव में प्रजा का पालन करने से आदित्य (सूर्य) और परम ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्र ये दोनों प्रजापति और सूर्य के नाम हैं। दिन में लय हो जाने (न रहने) से रात्रि का नाम (अहल्या) है। जीर्ण करने वाले को जार कहते हैं। रात्रि (अहल्या) के साथ सूर्य (इन्द्र) का संयोग होने से रात्रि का नाश हो जाता है। इसी संयोग के कारण उत्पन्न होने से उषा इन्द्र की पुत्री कहाती है। उषाकाल में सूर्य की किरणों के उषा में प्रवेश करने को स्त्रीपुरुष के संबन्ध के रूप में मान लिया गया।

इस प्रकार के कथानक अनित्य व्यक्तियों के उपाख्यान प्रतीत होने पर भी वास्तव में नित्य पदार्थों और घटनाओं के द्योतक ही हैं ॥६॥

ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा भौगोलिक स्थानों के नाम अलग अलग पड़े भले ही इतिहास का भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु जब उन्हें सन्दर्भान्तर्गत पूर्वापरसंबन्धों से परस्पर जोड़ कर उनमें सामंजस्य करने की चेष्टा की जाती है तो ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत होने से उनकी तथाकथित ऐतिहासिकता तत्काल लुप्त हो जाती है—

नेतिहासोपपत्तिरसामञ्जस्यात् ॥७॥

सामञ्जस्य न होने से इतिहास की सिद्धि नहीं होती।

आख्यानान्तर्गत नामों को यदि इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों का वाचक माना जाए तो उनका इतिहास से सामंजस्य होना चाहिए। परन्तु ऐतिहासिक घटनाओं तथा तथ्यों का वेदमन्त्रों में वर्णित बातों के साथ सामंजस्य नहीं होता। यही बात भौगोलिक संकेतों के विषय में भी कही जा सकती है। यहाँ हम उदाहरणार्थ ऐसी कुछ बातें प्रस्तुत करते हैं—

१—अथर्ववेद (१३-३-२६) में अर्जुन को द्रौपदी (कृष्णा) का पुत्र बताया गया है—**कृष्णायाः पुत्रोऽर्जुनः**। इतिहासप्रसिद्ध अर्जुन द्रौपदी का पुत्र नहीं, पति था। इन पदों के यौगिक अर्थ करते ही स्थिति स्पष्ट हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार **रात्रिर्वै कृष्णा, असावादित्यो तस्या वत्सोऽर्जुनः**—कृष्णा नाम रात्रि का है और उस (रात्रि) से उत्पन्न होने के कारण आदित्य अथवा दिन (अर्जुन) उसका पुत्र है। इस प्रकार यहाँ कृष्णा को महाभारत की द्रौपदी और अर्जुन को महाभारत के अर्जुन का वाचक नहीं माना जा सकता।

२—ऋग्वेद (६-६-१) में कहा है—**अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च ।** यहाँ कृष्ण और अर्जुन दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं, जबकि इतिहास (महाभारत) के अनुसार ये दो भिन्न व्यक्ति हैं। वस्तुतः कृष्ण और अर्जुन, निर्वचन के आधार पर, दोनों दिन के नाम हैं।

३—यजुर्वेद (२३-१८) में अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका तीनों नामो को एक साथ देखते ही कह दिया जाता है कि ये तीनों वही लड़कियाँ हैं जिन्हें भीष्म पितामह भगा कर ले गए थे। परन्तु महाभारत में इन्हें काशिराज की कन्यायें लिखा है, जबकि यजुर्वेद के उक्त मन्त्र में उन्हें **काम्पीलवासिनी** बताया है। वस्तुतः ये शब्द माता, दादी और परदादी के वाचक हैं अथवा यजुर्वेद १२-७६ व ३-५७ तथा आयुर्वेद के अनुसार औषधियों के नाम हैं।

४—ऋग्वेद के १-२४-१२, १३ मन्त्रों में शुनःशेप ऋषि और राजा हरिश्चन्द्र की कहानी बताई जाती है। इस लम्बी चौड़ी कहानी में अनेक व्यक्तियों के नाम आते हैं, जबकि उक्त मन्त्रों में एक **शुनःशेप** शब्द को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति के नाम का संकेत तक नहीं है।

५—देवापि और शन्तनु की कथा को लेकर विदेशी तथा कतिपय भारतीय विद्वानों को भी उनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने का भ्रम हुआ है। ऐतिहासिक शन्तनु का सांस्कारिक (मूल) नाम महाभिष था—**प्राङ्महाभिषसंज्ञितः** (भा. पु. ९-२२)। उसने शन्तनु नाम वेद से ग्रहण किया। इतिहास में देवापि का पिता प्रतीप=प्रतिप=पर्यश्रवाः है, जबकि वेद के अनुसार ऋष्टिषेण होना चाहिए। इस कठिनाई को देखकर कुछ आचार्यों ने देवापि के गुरु च्यवन का अपर नाम ऋष्टिषेण मान लिया और उसी को उसका पिता बना डाला। इस प्रकार कालान्तर में आर्ष्टिषेण देवापि का विशेषण बन गया। कुछ विद्वानों के अनुसार यह वर्षकाम सूक्त ही (ऋ० १०-९८) देवापि का बनाया हुआ है। यदि ऐसा होता तो देवापि इस सूक्त में शन्तनु के लिए महाभिष और अपने लिए आर्ष्टिषेण के स्थान पर च्यावन पदों का प्रयोग करता। यह भी निश्चित है कि यह सूक्त महाभारत प्रसिद्ध देवापि और शन्तनु से पहले विद्यमान था। फिर, इस मन्त्र का ऋषि भी देवापि है। मन्त्रद्रष्टा देवापि अपना निर्देश प्रथम पुरुष में और भूतकाल में कैसे कर सकता है?

निरुक्त की अपनी टीका (भा. २, पृ. ७०) में स्कन्दस्वामी ने देवापि द्वारा पुरोहित के रूप में वर्षा कराने से सम्बन्धित आख्यान की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा—

देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्। यद् यदा देवापिर्वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्षणस्योदकस्यार्थाय, पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकं···पूर्ववद् योज्यम् ॥

अर्थात् यहाँ देवापि विद्युत् का नाम है और शन्तनु जल का। वृष्टिरूप जल विद्युत् से ही बरसता है। पहले विद्युत् चमकती है, तब वर्षा होती है। अतएव

देवापि-विद्युत् पुरोहित कहाता है ।

ऋष्टि का अभिप्राय विद्युत् से है, इसकी पुष्टि ऋग्वेद के इन उद्धरणों से भी होती है—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कें रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः । १-८८-१॥
को वो अन्तर्मरुत ऋष्टि विद्युतो रेजति । १-१६८-५ ॥
य ऋष्वाऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः । ५-५२-१३ ॥
विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः । ३-५४-१३ ॥

वस्तुतः यह कहानी भी नित्य अर्थ की योजक है और उस ऋचा से सम्बन्धित है जिसका विनियोग वृष्टियज्ञ में होता है । कभी-कभी आवश्यकता होने पर भी वर्षा नहीं होती । या तो बादल आते ही नहीं या आ-आकर बिना बरसे चले जाते हैं । ऐसी अवस्था में कृत्रिम रूप से वर्षा कराने के उपायों की खोज करने में वर्तमान विज्ञान भी संलग्न है । वैज्ञानिक ऐसे परीक्षण कर रहे हैं कि ऊपर पहुँचकर विमान द्वारा आकाश में कुछ पदार्थ छिड़ककर बादलों को बरसाया जा सके । वेद में कृत्रिम रूप से वर्षा करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद के वृष्टिकाम सूक्त (१०-९८) में वैज्ञानिकों द्वारा उत्तर समुद्र (आकाश) से अधर (पार्थिव) समुद्र की ओर जल बरसाने की प्रक्रिया का ही उल्लेख किया है । इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में विद्युत् को सम्बोधन कर कहा गया है कि तुम राक्षसों को अर्थात् वृष्टि में बाधक तत्त्वों अथवा भौगोलिक कारणों को नष्ट करके प्रचुर जल की वर्षा कर दो ।

६. यजुर्वेद में एक मन्त्र है जिसमें पांच नदियों का उल्लेख प्रतीत होता है । इसके आधार पर कुछ लोग वेद में पंजाब अर्थात् प्रदेश विशेष का वर्णन बताते हैं । मन्त्र इस प्रकार है—

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सा देशेऽभवत्सरित् ॥ यजु० ३४-११

अर्थात् पांच नदियां अपने स्रोतों से सरस्वती को जाती हैं और वह सरस्वती पांच प्रकार की होकर उस देश में बहती है ।

सभी जानते हैं कि न तो सरस्वती नाम की नदी पंजाब में बहती है, न कोई पांच नदियां सरस्वती में गिरती हैं और न सरस्वती ही पांच धाराओं में बहती है । वास्तव में मन्त्र में आए नामों को प्रातिपदिक मानकर यौगिक प्रक्रियानुसार मन्त्र का अर्थ करने पर पता चलता है कि उसमें पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा मन की पांच वृत्तियों की स्मृति में ठहरकर वाणी द्वारा अनेकविध अभिव्यक्त होने का उल्लेख है ।

७—ऋग्वेद (१०-७५-५) के जिस मन्त्र के आधार पर आर्यों के सप्तसिन्धु (सात नदियों वाले) देश में बसने की कल्पना की जाती है वहाँ सात के स्थान पर दस नदियों के नाम दिए हैं । अगले ही मन्त्र में लखनऊ के पास बहने वाली गोमती

का नाम भी आ गया है। भगीरथ द्वारा गंगा के लाए जाने से बहुत पहले वेद प्रादुर्भूत हो चुके थे। गोमती की गिनती तो नई नदियों में ही की जाती है। वस्तुत: इन शब्दों को नदीपरक मानकर इनकी संगति नहीं बैठ सकती। भौगोलिक वर्णन से इन मन्त्रों का कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ आध्यात्मिक स्रोतों और शरीरस्थ विभिन्न नाड़ियों का वर्णन किया गया है। कालान्तर में इन्हीं मन्त्रों से शब्द लेकर नदियों का नामकरण कर दिया गया।

८—अथर्ववेद में आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली अयोध्या नगरी का नाम भी आया है। पर यह वह अयोध्या नहीं है जिसे इक्ष्वाकु ने बसाया था। यहाँ (अ. १०-२-३१, ३२) उस अयोध्या (स्वस्थ-सुदृढ़ होने से अजेय) नगरी से मतलब है जिसके विषय में गीता में कहा है —**नवद्वारे पुरे देही** अर्थात् जिसमें देही=आत्मा (यक्षमात्मन्वत्) निवास करती है, जिसमें हिरण्मय कोश (शिरो देवकोश:—अ० १०-२-२७) में देव=इन्द्रियाँ रहती हैं और जिसे ब्रह्मवित् लोग ही जानते हैं। ये बाते ईंट पत्थर की बनी अयोध्या में कैसे घट सकती हैं?

वास्तव में वेदमन्त्रों के ठीक-ठीक अर्थों की प्रतीति निरुक्तसम्मत निर्वचन के द्वारा ही हो सकती है ॥७॥

तब वेदमन्त्रों में आए नामों और लोक में उपलब्ध नामों में समानता क्यों है? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

वेदशब्देभ्यो नामानि गुणानुरोधात् ॥८॥

गुणों की समानता से वेद से गृहीत नामों के कारण।

मन्त्रगत विशेषताओं तथा घटनाओं के आधार पर इतिहास में वर्णित व्यक्तियों ने अपने नाम रख लिए अथवा अपने अनुकूल विशेषण बदल लिए। आज भी चुग़ली करने वाले व्यक्ति को नारद, क्रोधी को दुर्वासा, अत्याचारी को हलाकू या चंगेज़ख़ाँ, दुष्ट मामा को कंस और इसी प्रकार सत्यवादी को हरिश्चन्द्र, पतिव्रता नारी को सीता-सावित्री, दानी को कर्ण आदि पुराने नामों से पुकारे जाते सुना जाता है।

जब ज्ञान का एकमात्र आदिम स्रोत वेद ही था और वैदिक भाषा ही सृष्टि के आदि में मनुष्यों की एकमात्र भाषा थी तब मनुष्यों द्वारा रखे गए पदार्थों के नाम वैदिक नामों से भिन्न कैसे हो सकते थे? मनुस्मृति के इस श्लोक में यही बात कही है—

सर्वेषां चैव नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ १-२१ ॥

सृष्टि के आदि में ज्ञान देते समय परमेश्वर ने सब पदार्थों के नाम, कर्म आदि बता दिए। उन्हीं नामों का मनुष्य प्रयोग करने लगे। यौगिक प्रक्रियानुसार वैदिक शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के माता-पिता

ने वेद के इन शब्दों के आधार पर ही उनके ऐसे नाम रख दिए। इन व्यक्तियों के नामों की और वेद के शब्दों की श्रवणमात्र की समानता है। इसके अतिरिक्त वेद का इन ऐतिहासिक व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेद में इतिहासवाद का खण्डन करते हुए मीमांसा दर्शन में महर्षि जैमिनि ने इसी मत की पुष्टि की है ॥८॥

परन्तु वेदमन्त्रों में प्रयुक्त लङ्, लुङ्, लिट् लकारों की क्रियाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ कभी पहले घटी बात का वर्णन किया जा रहा है। इन क्रियापदों से वेद में इतिहास का होना प्रमाणित होता है। इस शंका का समाधान करते हैं—

छन्दसि लङ्, लुङ्, लिट् प्रत्ययाः सर्वकालेषु ॥९॥

वेद में लङ्, लुङ्, लिट् प्रत्ययों का सब काल में प्रयोग होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि वेद में इन तीनों कालों का प्रयोग यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। किन्तु त्रिकालाबाधित वेद में भूतकाल का प्रयोग कैसे सम्भव है? इसलिए पाणिनि के मत में लौकिक भूतार्थ वाचक लकारों का प्रयोग वेद में नहीं है। उनका कहना है—**छन्दसि लङ् लुङ् लिट् धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः** अर्थात् इन तीनों लकारों का प्रयोग धातु का अर्थमात्र बताने के लिए किया जाता है। काशिकाकार ने इसकी व्याख्या में लिखा—**छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वत्र कालेषु लङ् लुङ् लिट् प्रत्यया भवन्ति।** महाभाष्यकार पतंजलि का भी यही मत है। अतः इन लकारों के प्रयोग के कारण भूतकाल की क्रिया मानकर अर्थ करना और उस अर्थ के आधार पर वेद में इतिहास सिद्ध करने की चेष्टा करना वेद और व्याकरण दोनों के साथ अन्याय करना होगा ॥९॥

सप्तम अध्याय

वेद विषय

द्वे विद्ये वेदेष्वपरा परा चेति ।।१।।

वेदों में दो विद्यायें हैं—एक अपरा और दूसरी परा ।

मुण्डकोपनिषद् (१-१-४,५) में कहा है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह्यस्मद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।।

मुण्डकोपनिषद् के इस वचन को प्रमाण मान कर किसी किसी की ऐसी मान्यता है कि वेद केवल अपरा विद्या के ग्रन्थ हैं। परा विद्या के लिए उपनिषद् प्रमाण हैं। उपनिषदों का परा विद्या के ग्रन्थ होना निर्विवाद है। उनमें अपरा विद्या के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः अपरा विद्या के लिये निर्देश आवश्यक था। वह यहाँ कर दिया गया। वेद के विषय में भगवान् मनु **सर्वज्ञानमयो हि सः** तथा **सर्वं वेदात् प्रसिध्यति** जैसे उद्घोष करते नहीं अघाते। सायणाचार्य जैसे विद्वान् भी तैत्तिरीय संहिता भाष्य के उपोद्घात में कहते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ।।

अर्थात् प्रत्यक्ष वा अनुमान से जो नहीं जाना जाता वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेद का वेदत्व है।

ईश्वरीय ज्ञान की ऐसी शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में समस्त ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार वेद केवल परा विद्या के ग्रन्थ न होकर अपरा विद्या के भी हैं। मुण्डकोपनिषद् के उक्त वचन का इतना ही अभिप्राय है। वेदों में जहां ब्रह्मविद्या का मूल है वहाँ वे मनुष्य के लौकिक अथवा भौतिक जीवन के लिये अपेक्षित इतर ज्ञान का भी आदिस्रोत हैं।

सभी उपनिषद् वस्तुतः ईशोपनिषद् का विस्तार हैं और ईशोपनिषद् बहुत थोड़े अन्तर के साथ यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है। अतः उपनिषदों की शिक्षा का मूल वेद में ही है। इतना अवश्य है कि यदि उपनिषदों के मनुष्यरचित होने,

भिन्न भिन्न काल में अनेकों की रचना होने अथवा प्रक्षेप होने के कारण उनका कोई वचन वेद के विरुद्ध प्रतीत हो तो वेद के स्वतः अथवा परम प्रमाण होने से वह मान्य नहीं होगा। अपरा कोई निन्दासूचक शब्द नहीं है। विषयों की दृष्टि से ही विद्या के परा तथा अपरा भेद किये गये हैं। मैडम ब्लावट्स्की ने तिब्बती भाषा के एक ग्रन्थ Book of Golden Precepts के संक्षेप रूप Voice of Science में अपरा को Head Learning तथा परा को Soul Wisdom की संज्ञा दी है।

इस सन्दर्भ में **वेदार्थ प्रक्रिया** अध्याय के अन्तर्गत सूत्र ३४ से ३७ का भाष्य द्रष्टव्य है।

प्राकृतपदार्थानां ज्ञानेनोपकारग्रहणमपरा ॥२॥

जिससे प्राकृत पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उनका यथावत् प्रयोग जाना जाता है वह अपरा विद्या कहाती है।

अनादि काल से प्रवृत्त देहधारण और देहवियोग अर्थात् जन्म-मरण के क्रम से प्राप्त वासना जाल में प्रविष्ट जीवात्मा कर्मानुसार शरीरों को धारण करता और कर्मफल भोगने के लिये प्रकृति के सम्पर्क में आता है। भौतिक विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जान कर ही ऐहिक जीवन की सुख सुविधाओं के उपकरणों की उपलब्धि एवं उनका समुचित उपयोग संभव है। मोक्षप्राप्ति में साधनरूप शरीर (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्) की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्त्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना अपेक्षित है। तदर्थ सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। और जिसके द्वारा इस ज्ञान की उपलब्धि होती है उसे अपरा विद्या कहते हैं।

परन्तु ज्ञानमात्र से फल की प्राप्ति नहीं होती। सिर्फ़ जान लेना विद्या नहीं है। ज्ञान यदि व्यवहार में नहीं आता तो उसकी संज्ञा विद्या नहीं हो सकती। वस्तुतः जानना, जानने के लिये नहीं, करने के लिये होता है। यदि हम किसी बात को सही अर्थों में जानते हैं तो वह क्रिया में उतर आती है। जो व्यक्ति जानता है कि अग्नि में हाथ डालने से जल जाता है, क्योंकि अग्नि का स्वभाव जलाना है, वह जानबूझ कर कभी अग्नि में हाथ नहीं डालेगा। यदि कोई व्यक्ति जानता है कि झूठ बोलना, चोरी करना, रिश्वत लेना, शराब पीना, हत्या करना आदि बुरा है, परन्तु फिर भी झूठ बोलने, चोरी करने, रिश्वत लेने, शराब पीने, हत्या करने आदि में प्रवृत्त रहता है तो यही मानना होगा कि वह यह सब नहीं जानता। **जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः** की घोषणा करने वाला शिशुपाल वास्तव में धर्माधर्म के स्वरूप को नहीं जान पाया था। जब तक विद्या आचरण में न उतरे तब तक वह विद्या नहीं, अविद्या है। अतः

पदार्थमात्र के साधर्म्य-वैधर्म्य का यथावत् ज्ञान प्राप्त कर जीवन में उनका समुचित उपयोग करना अपरा विद्या के अन्तर्गत है।

ब्रह्मज्ञानं तत्प्राप्तिश्च परा ॥३॥

जिससे परमेश्वर को जान कर उसे प्राप्त किया जाये वह परा विद्या है।

परा यया तदक्षरमधिगम्यते—मुण्डकोपनिषद् के इस कथन के अनुसार परा विद्या वह है जिससे अक्षर अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान तथा साक्षात्कार होता है। प्रकृति तत्त्व से आत्मतत्त्व **पर** है। इसलिये उसका ज्ञान भी **परा विद्या** के नाम से कहा गया है। परा विद्या के द्वारा जिस ब्रह्म को जाना जाता है उससे कुछेक गुणों का वर्णन यहां किया जाता है—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ मुण्डक० १-१-६

अर्थात् जो न देखा जा सके, न पकड़ा जा सके, जिसका न कोई गोत्र हो, न रंग, जिसकी न आंखें हों, न कान और जो नित्य, सर्वव्यापक, अपरिणामी तथा समस्त जगत् का निमित्त कारण हो, धीर पुरुष उसे सर्वत्र देखते हैं।

> **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।**
> **एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।**
> **एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।**
> **एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥** कठ० २-१६, १७

निश्चय ही वह अविनाशी ब्रह्म सबसे महान् है। उसे जानकर जो जिस वस्तु की कामना करता है उसे पा लेता है। वही सर्वोत्तम आश्रय है। उसी को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में आनन्दित होता है।

यजुर्वेद में विराट्, पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नामों से आधिदैविक पक्ष में प्राकृतिक महदण्ड और उससे निर्मित जगत् को जानकर ही विद्वान् मृत्यु का अतिक्रमण करता है, ऐसा कहा है—**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।**—यजु: ३१-१८

तद्योगादभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः ॥४॥

उन दोनों (परा तथा अपरा विद्या) के योग से अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

अभ्युदय का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्त्तमान जीवन में भौतिक साधनों से प्राप्त ऐश्वर्य है। विद्वानों ने इस पद का अर्थ तत्त्वज्ञान भी किया है।

तत्त्वज्ञान और सुख में नित्य संबन्ध होने से दोनों अर्थों का सामंजस्य हो जाता है। अभ्युदय के साथ साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान निःश्रेयस की सिद्धि में भी सहायक है। वैदिक मतानुसार प्राकृत जगत् का ज्ञान प्राप्त किये बिना मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नहीं होता। **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**—धर्म की इस परिभाषा के द्वारा महर्षि कणाद ने परा तथा अपरा विद्याओं का महत्त्व यथावत् स्पष्ट कर दिया है। अपरा से अभ्युदय तथा परा से निःश्रेयस की सिद्धि होती है।

यजुर्वेद (४०-११) में विद्या और अविद्या दोनों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले फल का उल्लेख करते हुए कहा है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

यहां विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान आवश्यक एवं उपयोगी बताया है। यहां विद्या और अविद्या, परा और अपरा विद्या के वाचक हैं। जब नारद सनत्कुमार के पास अध्ययनार्थ गये तो बोले भगवन्! मैं मन्त्रविद् तो हूँ परन्तु आत्मविद् नहीं। मैंने सब विद्याओं का अध्ययन कर लिया है। परन्तु सब कुछ जान कर भी मैं भीतर ही भीतर खोखला अनुभव करता हूँ। **सोऽहं भावो शोचामि**—सब कुछ पाकर भी मैं दुःखी हूँ। मैं चित्त की वह शान्ति पाना चाहता हूँ जिसे पाकर मैं सदा आनन्द में लवलीन रहूँ। स्पष्ट है कि नारद के पास अपरा विद्या से प्राप्त लौकिक ज्ञान था, परा विद्या के द्वारा प्राप्य ब्रह्म ज्ञान से वह सर्वथा शून्य था।

इस दृष्टि से जिसे हम आज कल विज्ञान (Science) कहते हैं, वेद तथा उपनिषद् उसे अपरा विद्या अथवा अविद्या कहते हैं। इसके विपरीत अध्यात्म ज्ञान का नाम विद्या है। योग दर्शन (२-३) के अनुसार विनाशी पदार्थों में नित्यबुद्धि, अपवित्र शरीरादि में पवित्र्यबुद्धि, दुःखरूप भोगादि में सुखबुद्धि तथा देहेन्द्रियादि पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना अर्थात् जो पदार्थ जैसा नहीं है उसे वैसा मानना (अतस्मिंस्तद्बुद्धिः) अविद्या है। यदि प्रस्तुत वेदमन्त्र में अविद्या का यही अर्थ अभिप्रेत होता तो सब अनर्थों की जड़ (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः, अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्—योग दर्शन) अविद्या को मृत्यु से पार करने वाला (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा) न कहा जाता। वस्तुतः आज कल जिस भौतिक विज्ञान को विद्या कहा जाता है उसी को यहाँ अविद्या कहा गया है। संसार का भौतिक वैभव विज्ञान (अविद्या) के आविष्कारों के सहारे खड़ा है। चिकित्सा विज्ञान के द्वारा औषधियों का पता लगा कर रोगों की रोकथाम करके आयु को लम्बा किया जा सकता है। कृषि विज्ञान के द्वारा तथा उद्योगों की सहायता से जीवन यापन की सामग्री को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध कराया जा सकता है। अन्यान्य साधनों के द्वारा समय और दूरी को कम किया जा सकता है। संक्षेप में विज्ञान ने प्रकृति को मनुष्य के लिए

अत्यन्त सुखद और सुन्दर बना दिया है। परन्तु सब कुछ पाकर भी मनुष्य सुखी नहीं है। वेद कहता है कि भौतिक विज्ञान अविद्या है, विद्या नहीं। यह अविद्या मनुष्य को प्रकृति की ओर आकृष्ट करती है। प्रकृति सुख का साधन अवश्य है परन्तु वह सुखस्वरूप नहीं है। जब मनुष्य को अनुभूति हो जाती है कि इस प्रकृति से परे एक सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है तो वह उसे पाकर आनन्दमय हो जाता है। यह विद्या के द्वारा संभव है। प्रकृति विद्या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ आवश्यक वस्तुओं की कमी नहीं होने देती और आत्मविद्या उसे उनके मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। प्रकृतिविद्या जीवन की गाड़ी में इंजिन है तो आत्मविद्या ब्रेक का काम देती है। प्रकृतिविद्या के बिना जीवन की गाड़ी नहीं चल सकती तो आत्मविद्या की ब्रेक के अभाव में उसके कहीं भी टूट कर गिर जाने का भय रहता है। अतः अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिये दृश्यमान जगत् को भोग तथा अपवर्ग दोनों का साधन बनाने के लिये अविद्या तथा विद्या अर्थात् अपरा तथा परा दोनों विद्याओं का जानना आवश्यक है।

अपरायाः परोत्कृष्टा साध्यस्थानीयत्वात् ॥५॥

अपरा से परा उत्तम है, साध्य होने से।

साधन से साध्य का स्थान ऊपर होता है। साधन की अपेक्षा तभी तक होती है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं। परन्तु अपने स्वरूप में वे **श्वोभावाः**—क्षण-भंगुर अथवा नश्वर हैं। जीवात्मा की अनन्त यात्रा में तात्कालिक साधन मात्र हैं। जीवात्मा आगे बढ़ जाता है और ये सब यहीं धरे रह जाते हैं। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि जड़ पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी है—ऐसा जानकर जन्म-जन्मान्तर के रूप में आवर्त्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस मार्ग में प्रवृत्त करता है। अभ्युदय और निःश्रेयस में टकराव होने पर **परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः** के अनुसार वह निःश्रेयस को चुन लेता है। इसी रूप में तत्त्वज्ञान निःश्रेयस की सिद्धि में साधक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपरा विद्या=सृष्टि विद्या अथवा लौकिक ज्ञान को पुष्पस्थानीय तथा पराविद्या अथवा अध्यात्मज्ञान को फलस्थानीय कह कर अपराविद्या की तुलना में पराविद्या को श्रेष्ठत्व प्रदान किया है।

विभिन्न विद्यायें वेद मन्त्रों में निहित हैं। किस मन्त्र में कौन सा विषय है—यह उसके अर्थ से जाना जाता है। अतः—

मन्त्रार्थस्तस्य देवता ॥६॥
मन्त्र का अर्थ उसका देवता है।

सर्वानुक्रमणी में लिखा है—**या तेनोच्यते सा देवता**। षड्गुरुशिष्य ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—**तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता**। अर्थात् मन्त्र या सूक्त के प्रतिपाद्य अथवा वर्ण्य विषय को उस मन्त्र या सूक्त का देवता कहते हैं। इसलिए चेतन-अचेतन, मूर्त्त-अमूर्त्त, लौकिक-अलौकिक वस्तु या घटना—जिसका भी मन्त्र में वर्णन होगा वही उस मन्त्र का देवता कहलायेगा। वेद के शब्द यौगिक होने से मन्त्र अनेकार्थक हैं। मन्त्र का—उसके अर्थ का साक्षात्कार करने वाले ऋषि कहलाते हैं। अर्थदर्शन ही उनका ऋषित्व है। निरुक्त (७-३) में कहा है—**ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति**। ऋषित्व का अधिकार अथवा मन्त्रों के अर्थ सीमित नहीं हैं। अतएव मन्त्रों के ऋषि और देवता भी अन्तिम रूप से नियत नहीं हैं। मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष-दर्शन करने में समर्थ कोई भी व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि बन सकता है। और वह उस मन्त्र में जिस अर्थ का दर्शन करेगा वही उस मन्त्र का देवता हो जाएगा। इस विषय में यास्काचार्य का कथन है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

अर्थात्—जिस कामना वाला ऋषि, मैं अर्थ का स्वामी बनूं, ऐसा चाहता हुआ जिस देवता की स्तुति करता है, उस देवता वाला वह मन्त्र कहलाता है। इस प्रकार एक-एक मन्त्र के कितने ही ऋषि और कितने ही देवता हो सकते हैं।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानीयास्त्रिविधा देवताः ॥७॥
पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय भेद से तीन प्रकार के देवता हैं।

इन्द्रियगोचर-इन्द्रियातीत, प्रत्यक्ष-परोक्ष, जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल सभी कुछ मन्त्र का विषय हो सकता है। वैचारिक सुविधा की दृष्टि से इस सब को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—पृथिवी-स्थानीय अन्तरिक्ष-स्थानीय एवं द्यु-स्थानीय। भूस्थानीय देवता वे हैं जिन पर मुख्यतः लोक के जीवन का आधार है। अग्नि, जल, वनस्पति आदि सभी भूमिज पदार्थों का भूस्थानीय देवताओं में समावेश हो जाता है। अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में मरुत्, पर्जन्य, विद्युत् आदि का तथा द्युस्थानीय देवताओं में आदित्य, नक्षत्र आदि का समावेश हो जाता है। इनमें से तीनों के प्रतिनिधि देवों के रूप में क्रमशः अग्नि, वायु तथा आदित्य को माना जाता है, जैसा कि निरुक्त (७-५-२) के इस उद्धरण से स्पष्ट है—

अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।

ओषधि, वनस्पति, पर्जन्य, वायु, मरुत्, आपः, सूर्य, चन्द्रमा, सरिता, समुद्र, मित्र, सविता, मेघ, विद्युत्, उषा और इसी प्रकार के अनेक प्राकृतिक एवं भौतिक द्रव्यों के रूप में प्रतीयमान देवता या वर्ण्य विषय हैं जिनका वर्णन अनेक सूक्तों या मन्त्रों में मिलता है। इन्हीं देवताओं के माध्यम से वेद में वर्षा, सिंचाई, कृषि, वनस्पति, औषधि, चिकित्सा, ऋतु, यातायात, भौतिकी, रसायन, भोजन, वस्त्र, भूगर्भशास्त्र, सृष्टिविज्ञान आदि का वर्णन किया गया है। उदाहरणतः इन्द्र-वृत्र संग्राम, वृष्टि-अनावृष्टि का आलंकारिक वर्णन है। अनावृष्टि की अवस्था में आकाश में मेघ फिरते रहते हैं, बरसते नहीं। तब इन्द्र उन्हें उन्हीं के अन्तर्हित शक्ति के रूप में स्थित विद्युत् आदि के द्वारा छिन्न-भिन्न करके बरसा देता है और सूखी नदियाँ धाराओं के रूप में बह निकलती हैं।

आध्यात्मिक्यश्च ॥८॥
और आध्यात्मिक।

वे विषय जो आत्मा व परमात्मा से सम्बद्ध हैं अथवा जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष का परोक्ष रूप में इनसे है, आध्यात्मिक कोटि में गिने जाते हैं। आध्यात्मिक देवतात्मक मन्त्र आध्यात्मिक ऋचा से भिन्न है। जब हम आध्यात्मिक ऋचा कहते हैं तो हमारा अभिप्राय उन ऋचाओं से होता है जिन्हें वक्ता स्वयं कह रहा होता है। आत्मा को केन्द्र मानकर रची गई इन ऋचाओं में उत्तम पुरुष का प्रयोग रहता है। आध्यात्मिक देवताओं में हम उन सभी देवताओं या वर्ण्य विषयों का ग्रहण करते हैं जिनका अन्तर्भाव पूर्वसूत्र में नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में, भावात्मक रूप में स्थित सभी विषयों को इस कोटि में रक्खा जा सकता है। पुरुष, आत्मा, यम, रुद्र, मृत्यु, भाव, विनाश, मन, वाक्, श्रद्धा आदि इस वर्ग में गृहीत हैं। इन देवताओं को लक्ष्य करके वेद में परमात्मा, जीवात्मा, जैवसृष्टि, नृविज्ञान, व्यक्ति, समाज (वर्णाश्रम), परिवार, शासनतन्त्र, शिक्षा, मनोविज्ञान, दर्शन, युद्ध व शान्ति, अर्थशास्त्र, यज्ञ, पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि विषयों का वर्णन किया गया है।

सर्वमक्षरस्योपाख्यानम् ॥९॥
सर्वत्र अक्षर (ब्रह्म) का ही व्याख्यान है।

वेद में अग्नि, इन्द्र, वायु, विष्णु आदि को जिन-जिन शक्तियों से युक्त एवं जिन गुणों से विशिष्ट बताया है, वह उनकी स्वतन्त्र सत्ता के प्रकाशन के लिए नहीं, अपितु परमात्मा की उन विशिष्ट शक्तियों के एकत्र नामकरण करने का प्रयास है। जब हम अग्नि कहते हैं तो परमात्मा के यज्ञमय, प्रकाशमय, अग्रणी, शक्तिदाता आदि रूपों को एकत्र वर्णन करना चाहते हैं। अपने इन्हीं गुणों को परमात्मा ने अग्नि में प्रदान किया है। अतः वेद में भौतिक अग्नि के माध्यम से

उस वास्तविक अग्नि का ही वर्णन किया है। आपाततः देखने से अग्नि, वायु, मृत्यु, मन आदि भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु वास्तव में ये एक बृहत्तर सत्य के विविध पक्ष हैं। उस बृहत्तर सत्य को ही ब्रह्म कहा गया है।

मुख्यदेवतात्वेन तदेवोपास्यम् ॥१०॥
मुख्य देवता होने से वह (ब्रह्म) ही उपासनीय है।

अन्ततः परमात्मा ही इस समस्त सृष्टि का आदिकारण है। यद्यपि जीव और प्रकृति भी आदिकारण हैं, परन्तु वे सदा एकरस नहीं रहते, उनके स्वरूप समय-समय पर बदलते रहते हैं। परन्तु पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्—परमेश्वर पहले भी इसी रूप में था और भविष्य में भी इसी रूप में रहेगा। स्वयं गति न करते हुए भी वह प्रकृति में गति एवं क्रिया का कारण बनकर इस समस्त लोकरचना-प्रक्रिया का हेतु बनता है। अग्नि, वायु, आदित्य आदि की उत्पत्ति उसी से हुई है। उसी के प्रकाश से ये सब व्यवहारोपयोगी देवता प्रकाशित हैं। जिसमें जितना गुण है उसमें उतना ही देवत्व है। उन गुणों का उपयोग कर उनसे लाभ उठाना उनकी पूजा है। परन्तु उपास्य देव केवल एक महादेव ही है जो विविध रूप में अनेक शक्तियों के माध्यम से इस मर्त्यलोक में अमर बनकर व्याप्त है—**महो देवो मर्त्याँ आ विवेश (ऋग्. ४-५८-३)**। निरुक्तकार यास्काचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है—

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

अर्थात् एक सर्वव्यापक परमात्मा ही मुख्य देव है। परन्तु उस एक ही आत्मा के अनेकविध ऐश्वर्य के कारण उसका विविध रूप में स्तवन किया जाता है। अन्य सब देव उस परमात्मा के—महादेव के एक अंग में आ जाते हैं। ये विविध शक्तियाँ उस एक ही परम सत्ता या तत्त्व के विविध अंशों का प्रतिनिधित्व करते हुए अन्ततः एक ही परम सत्य का अवबोध कराती हैं। प्रत्यक्षतः भौतिक अग्नि को देखकर भी वेदानुयायी वास्तव में अग्निरूपी पुरुष का ही चिन्तन करता है। जब हम किसी कार्य की प्रशंसा करते हैं तो वह वास्तव में कर्त्ता की ही प्रशंसा होती है।

सब पदार्थ किसी न किसी प्रयोजन के लिए पैदा हुए हैं, अतः वे कर्मजन्मा हैं। परमात्मा के सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण वे आत्मजन्मा हैं। कारण की खोज करते करते हम अन्त में आदि कारण परमेश्वर पर जाकर ठहर जाते हैं। एक परमेश्वर ही ऐसा है जिसका अन्य कोई कारण नहीं। शेष सम्पूर्ण जगत् के सब पदार्थ एक दूसरे से कार्य-कारण शृंखला में बंधे हैं। इसलिए यास्काचार्य ने परमात्मा को 'आत्मा सर्वं देवस्य' प्रत्येक देव का सर्वस्व कहा है।

एकं सद् बहुधोक्तम् ॥११॥

एक होते हुए भी अनेकशः पुकारा जाता है।

परमेश्वर अद्वैत अर्थात् अद्वितीय है—अथर्ववेद (१३-४) में इसकी स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा गया—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एक वृदेक एव (१६-२०)

अर्थात्—न वह दूसरा है न तीसरा, न चौथा, न पांचवां, न छठा, न सातवां, न आठवां, न नवां और न दसवां—वह तो एक ही है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी उसके अद्वितीय होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—न त्वदन्यो **दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते** (ऋ० ७-३२-३३) अर्थात्—हे भगवन्! तुझ जैसा न कोई दिव्य है और न कोई पार्थिव; न कभी हुआ है और न कभी होगा।

किन्तु एक होने पर भी प्रकरणानुसार उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसमें ऋग्वेद (१-१६४-४६) की साक्षी है—

एकं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

एक सत्यस्वरूप ब्रह्म को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

यजुर्वेद (३२-१) भी इसमें प्रमाण है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वह पूर्ण पुरुष ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अप् तथा प्रजापति है।

ऐतरेय ब्राह्मण (२-४१) के अनुसार भी **'चन्द्रमा वै ब्रह्म'** ब्रह्म का नाम ही चन्द्रमा है। मैत्रायण्युपनिषद् (६-८) में कहा है—

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।

यह परमात्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृट्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शान्त, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और इन्दु है।

सूर्यशतनाम में इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः कह कर

इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचिः, सौरि तथा शनैश्चर पदों से परमात्मा का उल्लेख किया है।

कठोपनिषद् (५-८) के अनुसार **तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते** वही ब्रह्म और वही अमृत कहलाता है।

कैवल्योपनिषद् (५-८) में भी आया है--

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।

वही ब्रह्मा है, वही विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, परम और स्वराट् है। वही इन्द्र, कालाग्नि और चन्द्रमा है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१-१२३-१३) ने भी अन्त में कह डाला—

सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणः—ये सब नाम परब्रह्म के हैं।

षोडशकलं वै ब्रह्म ॥१२॥

ब्रह्म सोलह कलाओं से युक्त है।

कुछेक विषयों को छोड़कर वेद में सभी वर्णन उन दिव्य शक्तियों के हैं जिन्हें हम सामान्यतः परमात्मा की शक्तियाँ कहते हैं और जिनका वर्णन भौतिक या आध्यात्मिक स्तर पर किया जाता है। वास्तव में इन्हीं शक्तियों के माध्यम से हमें परमात्मा की अनन्त शक्तियों का परिचय मिलता है। उसकी सर्वव्यापकता एवं सर्वातिशयता को देखकर ही उसे **ब्रह्म** कहा गया है। उसी को यजुर्वेद (८-३६) में १६ कलाओं से युक्त होने के कारण **षोडशी** नाम से अभिहित किया है—

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सं रराणस्त्रीणि ज्योतीᳪषि सचते स षोडशी॥

अर्थात् जिस परमेश्वर से उत्तम दूसरा कोई नहीं है, जो समस्त लोकों में व्याप्त है वह प्रजा का पालक परमेश्वर अपनी प्रजा को सुख देता हुआ सूर्य, विद्युत् और अग्नि इन तीन ज्योतियों को अपने भीतर धारण करता है। वह सोलह कलाओं से युक्त है।

इन सोलह कलाओं का निर्देश अनेकत्र उपलब्ध है। किन्तु सर्वत्र ही कुछ न कुछ अन्तर है। प्रश्नोपनिषद् में छठे प्रश्न के अन्तर्गत इन कलाओं का उल्लेख है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में ४-२५ तथा १-४६ में इनका वर्णन मिलता है। परन्तु दोनों ही स्थानों का वर्णन परस्पर में तथा प्रश्नोपनिषद् से सर्वथा भिन्न है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद भाष्य (३२-५) में षोडश कलाओं का निर्देश ठीक प्रश्नोपनिषद् के अनुसार किया है। परन्तु अन्यत्र (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, यजुर्वेदभाष्य ८-३६ व आर्याभिविनय) उनके ग्रन्थों में भी थोड़ा-थोड़ा

अन्तर मिलता है। उक्त तीनों ग्रन्थों में प्राण से पूर्व इच्छा या ईक्षण (दोनों समानार्थक) का समान रूप से निर्देश मिलता है। परन्तु ईक्षण या इच्छा की वृद्धि हो जाने पर १६ की संख्या को यथावत् बनाए रखने के लिए यजुर्वेद भाष्य में कर्म को और ऋ. भा. भू. में लोक को छोड़ दिया गया है। आर्याभिविनय में लोक व लोकों के नाम को सम्भवतः एक मानकर संख्या ठीक कर रक्खी है। यहाँ हम उल्लिखित सोलह कलाओं को तालिका के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

सं०	प्रश्नोप. ६-३	यभा. ३२-५ इच्छा	यभा. ८-३६ ईक्षण	ऋ. भा. भू. ईक्षण	आर्या.	जै. उ. ब्रा. ४-२४	जै. उ. ब्रा. १-४६
१	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	सत्	भद्र
२	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	असत्	समाप्ति
३	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश	असत्	आभूति
४	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	सत्	संभूति
५	ज्योति	ज्योति	अग्नि	अग्नि	अग्नि	वाक्	भूत
६	आपः	आपः	आपः	जल	जल	मनः	सर्व
७	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	मनः	रूप
८	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	वाक्	अपरिमित
९	मनः	मनः	मनः	मनः	मनः	चक्षुः	श्री
१०	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	श्रोत्र	यशः
११	वीर्य	वीर्य	वीर्य	वीर्य	वीर्य	श्रोत्र	नाम
१२	तपः	तपः	तपः	तपः	तपः	चक्षुः	अग्र
१३	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	श्रद्धा	सजात
१४	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	तपः	पयः
१५	लोक	लोक	लोक	लोक	लोक	तपः	महीयस्
१६	नाम	नाम	नाम	नाम	लोकों के नाम	श्रद्धा	रस

तत्प्राप्तियोजना सर्वोपदेशाः ॥१३॥

उस (ब्रह्म) की प्राप्ति के लिए सब उपदेश है।

चराचर जगत् में व्याप्त परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है। उससे पृथक् जगत् गौण अर्थ है। व्याकरण के **प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः** इस नियम के अनुसार प्रधान का ही ग्रहण उचित है। तदनुसार वेदों का मुख्य उद्देश्य परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति कराना है। इसीलिए वेद मन्त्रों के विविध अर्थ किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए ऋषि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखा—**नैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे ईश्वरस्यात्यन्तं त्यागो भवति** अर्थात् किसी भी मन्त्र

का अर्थ करते समय ईश्वर का परित्याग नहीं करना चाहिए। स्वयं वेद की घोषणा है—

> **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।**
> **यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।**
>
> ऋ० १-१६४-३९

जिसने वेदों में प्रतिपादित सर्वव्यापक तथा अविनाशी ब्रह्म को, जिसमें सूर्यादि समस्त लोक स्थित हैं, नहीं जाना वह वेदमन्त्र पढ़कर क्या करेगा ? वेद-वेदांग-उपांग-उपनिषद् आदि का अन्तिम उद्देश्य परमेश्वर की प्राप्ति में सहायक होना है। मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है और **तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति** (यजुः ३१-१८) उसे जान लेने पर ही यह सम्भव है। मुण्डकोपनिषद् (२-२-४) में कहा है—

> **प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।**
> **अप्रमत्तेन बोद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।।**

प्रणव को धनुष, आत्मा को शर और ब्रह्म को लक्ष्य मान, अप्रमत होकर लक्ष्य का वेध किया जाये तो जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है वैसे ही आत्मा ब्रह्ममय हो जाता है।

अतः लौकिक जीवन को सुखी बनाने के साधनोपायों का प्रतिपादन करते हुए भी वेद ज्ञान-कर्म-उपासना के द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करने का ही उपदेश करते हैं।

कर्मकाण्डाख्यः क्रियामयो द्वितीयो विषयः ।।१४।।

क्रियाप्रधान कर्मकाण्ड नामक दूसरा विषय है। कर्मकाण्ड के बिना विद्या-भ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं होते। कर्मकाण्ड के मुख्यतः दो भेद है—एक परमार्थ और दूसरा लोकव्यवहार। परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना तथा योगाङ्गों के अनुष्ठान के द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए निष्काम कर्मों में प्रवृत्त रहना प्राप्ति का साधन है। अनन्त सुख का कारण होने से यह श्रेयस्कर है। लौकिक सुखों की सिद्धि के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं का जुटाना सकाम कर्म है। इन साधनों से प्राप्त सुख क्षणभंगुर होने से अक्षय सुख का देने वाला नहीं होता। परन्तु परमार्थ प्राप्ति में साधनरूप होने से सर्वथा हेय भी नहीं है।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म परार्थत्वात् ।।१५।।

परोपकार का साधन होने से यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है।

कर्मकाण्ड प्रधान यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही **प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे**—**श्रेष्ठतम** कर्म में प्रवृत्त होने की प्रार्थना की गई है। अन्यत्र (यजुः ९-२१, १८-२९,

२२-३३) मनुष्य को अपना सर्वस्व यज्ञार्थ समर्पित कर जीवन को यज्ञमय बना देने की प्रेरणा की गई है। भोजन-छादन, कला-कौशल आदि से उनके कर्ता को ही सुख मिलता है। परन्तु कस्तूरी, केसर आदि सुगन्धयुक्त; मधु, गुड़ आदि मिष्टगुणयुक्त; घृत, अन्न आदि पुष्टिकारक गुणयुक्त तथा सोमलतादि रोगनाशक गुणयुक्त द्रव्यों से जो यज्ञ होता है उससे प्राणिमात्र को सुख पहुंचता है। इसलिए उसे श्रेष्ठतम कर्म कहा जाता है। मनुस्मृति में कहा है—

दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ।

अर्थात् देवयज्ञ में प्रवृत्त मनुष्य चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है। ऐतरेय ब्राह्मण (१-२-१) में कहा है—**यज्ञोऽपि तस्मै जनतायै कल्पते**—अर्थात् यज्ञ जनता (सब) के लिए होता है। इसमें अपने-पराये, शत्रु-मित्र आदि में भेद करना सम्भव नहीं। चाह कर भी कोई अपने विरोधी पड़ौसी के घर में होमजन्य सुगन्धि को जाने से नहीं रोक सकता।

अन्नं वै ब्रह्म जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् ॥१६॥

जीवन का मुख्य हेतु होने से अन्न की संज्ञा ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली) के अनुसार अन्न के रस से ही मनुष्य की स्थिति है (स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः)। अन्यत्र भी उपनिषदों में अन्न की स्तुति के अनेक वचन उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते, अन्नेनैव जीवन्ति, अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्, अन्नाद् भूतानि जायन्ते, जातान्यन्नेन वर्धन्ते ।

तैत्तिरीय उपनिषद् (२-१) में पुरुष की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार लिखा है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद् रेतः, रेतसः पुरुषः ।

अर्थात् पहले परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, औषधि से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ।

अन्नप्राप्ति का साधन कृषि है। इसलिए वेद का आदेश है—

सुसस्याः कृषीस्कृधि (यजु० ४-१०)—उत्तम अन्न के लिए खेती करो।

कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम् (यजु० १८-९)—यज्ञ की सहायता से खेती करो।

जल के बिना खेती नहीं हो सकती। इसलिए वेद का कथन है—**वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्**—वर्षा के लिए यज्ञ करो।

गीता (३-१४) में यह क्रम इस प्रकार बताया है—

अन्नाद्‌ भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

अर्थात्—प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न मेघ या वर्षा से उत्पन्न होता है, मेघ की उत्पत्ति यज्ञ से और यज्ञ की कर्म से होती है।
इस प्रकार—

वृष्टिनियन्त्रको हि यज्ञः ॥१७॥
वृष्टि को नियन्त्रित करने वाला यज्ञ है।

वेद में प्रार्थना की गई है—**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**—जब जब हम चाहें तब तब वर्षा हो। इच्छानुसार वर्षा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्—करने, न करने (बन्द करने) और जहाँ जितनी चाहें वहाँ उतनी करने की प्रक्रिया यज्ञ के अधीन है। मनुस्मृति (३-७६) में गीता के पूर्वोद्धृत श्लोक से मिलती जुलती बात इन शब्दों में कही गई थी—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

यज्ञ की अग्नि में दी गई आहुति सूर्य को पहुंचती है; सूर्य से वर्षा होती वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। यही श्लोक महाभारत (शान्तिपर्व २६२-११) में भी मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (५-३-१७) में कहा है—**अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्‌ वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते**—अर्थात् अग्नि में पड़े द्रव्यों से धुआ उत्पन्न होता है, क्योंकि अग्नि पदार्थों में प्रवेश करके उन्हें छिन्न भिन्न कर देती है। छिन्न भिन्न होने से सूक्ष्म होने के कारण हल्के होकर उनके परमाणु आकाश में चढ़ जाते हैं। वहाँ वे मेघ बनाने में सहायक होते हैं। वर्षा के लिए आवश्यक है कि १—वायुमण्डल में नमी चूसने वाले ज़र्रे हों; २—ये ज़र्रे थोड़े हों; ३—वायु की ऊर्ध्वगति हो। घृतमिश्रित धुंआँ ये तीनों काम करता है और ज़र्रों को जलबिन्दु बनाकर वर्षा में सहायक होता है। जब आकाश में बादल घूमते रहते हैं, परन्तु बरसते नहीं, उस अवस्था में याज्ञिक प्रक्रिया वर्षा करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। जब जल का भार अधिक और वायु का कम होता है तो वृष्टिजल द्युलोक से पृथिवी पर आ गिरता है। अथर्ववेद ४-१५-७) में कहा है—**मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः वर्षन्तु पृथिवीमनु**—अर्थात् वायुओं से गिराए या छोड़े गए मेघ पृथिवी पर बरसें। घृत के परमाणुओं से मिश्रित धुएँ से वायु को हल्का करने और जल को भारी करने के दोनों प्रयोजन एक साथ सिद्ध होते हैं।

वेद के अनुसार मित्र (oxygen) और वरुण (hydrogen) के मिलने से जल बनता है। इसलिए मित्र और वरुण को वृष्टि का स्वामी कहा गया है—**मित्रावरुणौ वृष्ट्या अधीपती** (अथर्व० ५-२४-५)। जल के निर्माण में **मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यम्** (यजु० १४-२४)—वरुण तत्त्व की प्रधानता अर्थात् उसका आधिक्य होता है। उसकी तुलना में मित्र तत्त्व कम होता है। मित्र और वरुण के मिलने से जल बनकर यदि वर्षा होती है तो जल के मित्र और वरुण के रूप में विभक्त होकर जलाभाव हो जाने से वर्षा बन्द हो जानी चाहिए। इसका संकेत यजुर्वेद (१३-५३) में इन शब्दों में किया गया है—**अपां त्वा योनौ सादयामि**—अर्थात् हे जलों ! मैं तुम्हें तुम्हारी योनि—तुम्हारे कारण तत्त्वों में स्थापित करता हूं। अर्थात् तुम्हें मित्र और वरुण के रूप में परिवर्तित करता हूँ। जब वर्षा करना अभीष्ट हो तो जलों को वायु में स्थापित किया जाता है—**अपां त्वेमन् सादयामि** (यजु० १३-५३) और औषधियों को होमकर जलों की धारक शक्ति को बढ़ा कर उन्हें भस्म में अर्थात् बादल के रूप में (अभ्र वा अपां भस्म) परिवर्त्तित किया जाता है—**अपां वा भस्मन्त्सादयामि** (यजु० १३-५३)। इस प्रकार वेद वर्षा कराने और रोकने—इन दोनों प्रकार की विधाओं के विषय में स्पष्ट संकेत कर रहा है। याज्ञिक प्रक्रिया के ज्ञान, अभ्यास तथा प्रयोग से वर्षा को नियंत्रित करके ही **निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** की घोषणा सम्भव है।

शुद्धान्नजलवाय्वादिभिः प्राणिसुखम् ॥१८॥

शुद्ध अन्न, जल, वायु आदि से प्राणिमात्र को सुख होता है।

अथर्ववेद (८-१-१९) में कहा है—

> **यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।**
> **यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि॥**

यह मन्त्र आयुष्यगण में पठित है और इसका देवता (वर्ण्यविषय) आयु है। इस मन्त्र के द्वारा वेद ने अन्न, जल, फल, दुग्ध आदि आहार और वस्त्र, स्थान आदि विहार सामग्री को दोषों से सर्वथा रहित रखने के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सार्वत्रिक शुद्धि का उपाय क्या है।

तत्र द्विविधः प्रयत्नः ईश्वरकृतो जीवकृतश्च ॥१९॥

उस (शुद्धिकार्य) में दो प्रकार का प्रयत्न है - ईश्वरकृत एवं जीवकृत।

सूर्यवनस्पत्यादिसृष्टिरूपमीश्वरकृतः ॥२०॥

सूर्य, वनस्पति आदि की सृष्टि के रूप में ईश्वरकृत है।

व्यापक रूप से पृथिवी एवं अन्तरिक्ष के दोषों को दूर करते रहने का सर्वोत्तम साधन सूर्य है। अथर्ववेद (२-३२-१) में कहा है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः । ये अन्तः क्रिमयो गवि ।

उदय और अस्त होता हुआ सूर्य अपनी प्रखर किरणों से शरीर के भीतर बाहर तथा पृथिवी पर विद्यमान कृमियों को नष्ट कर देता है । इस सूक्त के शेष सब मन्त्रों में भी सूर्य के विविध रूप में क्रिमि नाशक होने का वर्णन किया है । उदय और अस्त होते हुए सूर्य का निर्देश विशेष रूप से इसलिए किया है, क्योंकि तिरछी पड़ती हुई किरणें ही घरों के भीतर, गुफ़ाओं में तथा वृक्षों के झुरमुटों में प्रवेश कर सकती हैं । अथर्ववेद काण्ड ५, सूक्त २३ के ३ से ६ मन्त्रों में भी सूर्य की तेज़ धूप को सब प्रकार के क्रिमियों का नाशक बताया है । वृक्षादि वातावरण में विद्यमान दूषित वायु को ग्रहण कर तथा शुद्ध वायु को प्रदान कर शुद्धि कार्य में प्रवृत्त रहते हैं । सूअर, मुर्गा, मछली, कौआ, गिद्ध आदि जन्तु भी अपने-अपने ढंग से गन्दगी को दूर करने में सहायक हैं । यह सब ईश्वरीय व्यवस्था है ।

मानवोत्पादितप्रदूषणस्य निवारणार्थमग्निहोत्रं जीवकृतः ।।२१।।

मनुष्य द्वारा उत्पन्न प्रदूषण के निवारणार्थ अग्निहोत्र मनुष्यकृत प्रयत्न है ।

मलमूत्रादि के विसर्जन, पदार्थों के गलने सड़ने, श्वास-प्रच्छ्वास की प्रक्रिया तथा वर्त्तमान में धूम्रपान, कल कारखानों तथा यातायात आदि के कारण उत्पन्न दूषित वातावरण के लिए स्वयं मनुष्य उत्तरदायी है । तब उसका निवारण करना भी उसका कर्त्तव्य है । इसका एकमात्र उपाय अग्निहोत्र है । द्युस्थानीय सूर्य का धरती पर प्रतिनिधित्व अग्नि करती है । अग्नि में पड़ते ही किसी द्रव्य का दूषण सर्वथा समाप्त हो जाता है । उसी के प्रभाव के कारण गरम जल भी क्रिमिनाश में सहायक होता है । अग्नि में होम किए अनेक प्रकार के रोगनाशक गुणयुक्त तथा सुगन्धगुणयुक्त पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुँआ जलवायु के दोषों अथवा विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है । जहाँ होम किया जाता है उस स्थान के अन्दर वर्त्तमान अग्नि, वायु तथा सूर्यकिरणों की रोग दूर करने की शक्ति बढ़ जाती है । वेद (अथर्व० काण्ड ३, सूक्त ११ एवं काण्ड २०, सूक्त ९६) में अज्ञात तथा असाध्यसम दुःसाध्य रोगों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय होमचिकित्सा बताई है । होम की सहायता से होने वाली वर्षा का जल भी शुद्ध होता है और उस शुद्ध जलवायु से उत्पन्न ओषधि वनस्पति भी शुद्ध अथवा निर्दोष होते हैं ।

न सुगन्धद्रव्यादिभिः तत्सिद्धिः ।।२२।।

सुगन्धगुणयुक्त द्रव्यों का वह लाभ नहीं हो सकता ।

रिक्त स्थान में ही किसी वस्तु का प्रवेश सम्भव है । सुगन्धगुणयुक्त पदार्थों

से निकलने वाली गन्ध पहले से विद्यमान दुर्गन्धित वायु को अग्नि के समान हल्का करके निष्कासित नहीं कर सकती। अतः सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध भी वहीं रह जाती है और रिक्त स्थान न होने से शुद्ध वायु भी वहाँ प्रवेश नहीं कर पाती। स्थूल द्रव्य से चूर्ण में, चूर्ण से तरल में और तरल से वायुरूप में अधिक शक्ति होती है। मिर्च के खाने और आग में डालकर मिर्च को सूंघने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। अग्नि में डाले गये द्रव्य की शक्ति और उसका व्यापार क्षेत्र उसके सूक्ष्म होने से अनेक गुणा बढ़ जाता है।

यहाँ एक शंका उठती है—

न तद् द्रव्याणां विनाशात् ॥२३॥

द्रव्यों का नाश हो जाने से वह (होम से होने वाला लाभ) नहीं होगा।

अग्नि में डाले गए पदार्थ भस्म होकर तत्काल नष्ट होते देखे जाते हैं। तब होम से किसी प्रकार का लाभ कैसे सम्भव होगा?

इसके समाधानार्थ अगला सूत्र है—

विनाशो बाह्येन्द्रियादर्शनम् ॥२४॥

बाह्य इन्द्रिय से न दीखना ही नाश है।

किसी पदार्थ का अत्यन्त नाश नहीं होता, केवल वियोग अथवा रूपान्तर होता है। नामरूप का अन्तर विनाश का द्योतक नहीं है। **नाश** शब्द **णश् अदर्शने** धातु से घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। अदृश्य हो जाने को ही लोक में नाश का नाम दे दिया जाता है। किसी पदार्थ के परमाणु जब अलग-अलग हो जाते हैं तो अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से दिखाई नहीं देते। परन्तु अलग-अलग होकर अदृश्य हो जाने पर भी वे आकाश में वर्तमान रहते हैं। **नाभावो विद्यते सतः** (गीता)—किसी भी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता।

पूर्वपक्ष के रूप में एक अन्य शंका प्रस्तुत करते हैं—

किमर्थं मन्त्रोच्चारणम् ॥२५॥

यदि जलवायु की शुद्धि आदि के लिए ही यज्ञ किया जाता है तो मन्त्र पाठ से क्या लाभ?

इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया है—

तत्तु वेदरक्षणयज्ञफलज्ञानेश्वरोपासनार्थम् ॥२६॥

वह तो वेद की रक्षा, यज्ञ से होने वाले लाभ का ज्ञान तथा ईश्वरोपासना के लिए है।

वेद मन्त्रों का बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ हो जाते हैं जिससे वेद

की रक्षा होती है। प्रकारान्तर से ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना होकर भक्तिभाव बना रहता है। इसके अतिरिक्त होम से होने वाले अनेक प्रकार के लाभों का ज्ञान भी होता जाता है।

यज्ञमात्रमहिसक एवाध्वरसंज्ञकत्वात् ॥२७॥
सभी यज्ञ हिंसारहित होते हैं, अध्वर नाम होने से।

निघण्टु पठित **ध्वृ** धातु हिंसार्थक है, **अध्वर** में उसका निषेध है। **अर्थात्** **नञ्** पूर्वक **ध्वृ** धातु से **घञ्** प्रत्यय होकर **अध्वर** शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार यज्ञवाची अध्वर शब्द से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी तरह की पशुहिंसा नहीं हो सकती। यज्ञों में पशुवध होने से उनके लिए अध्वर शब्द सार्थक नहीं हो सकता। अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं—

अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः (निरुक्त २-७)

अर्थात्—यज्ञ का नाम अध्वर है जिसका अर्थ हिंसा रहित कर्म है।

सब वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में अध्वर शब्द का प्रयोग सैंकड़ों स्थानों पर पाया जाता है। यहाँ हम ऐसे कुछेक स्थलों का निर्देश करते हैं—

ऋग्वेद—१-१-४; १-१-८; १-१४-२१; १-१९-१; १-४४-१३; १-७४-१; १-९३-१२; १-१०१-८; १-१२८-४; १-१३५-३; १-१५१-३ व ७; २-२-५; ३-१७-५; ३-२०-१व ५; ३-२४-२; ३-५४-१२; ४-२-१०; ४-९-६; ४-१५-२; ४-३७-१; ५-४-८; ५-२६-३; ५-२८-६; ५-४४-५; ६-२-३; ६-१६-२; ७-३-१; ७-४-१६; ८-३-५व ७; ८-२७-१; ८-३५-२३; ८-४६-१८; ८-५०-५; ८-६६-१; ८-७०-२; ८-७१-१२; ८-९३-२३; ९-६७-१; १०-७७-८; १०-२२-७

यजुर्वेद में यज्ञ के पर्याय अथवा विशेषण रूप में अध्वर शब्द का प्रयोग कम से कम ४३ स्थानों पर मिलता है। उदाहरणत :—

२-४; ३-११; ६-२३; ६-२५; १५-३८; २९-२६

सामवेद में भी यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग निम्नांकित तथा अन्य सैंकड़ों मन्त्रों में पाया जाता है—

पू० १-२-६; १-३-१; १-३-१२; २-२-६; १-६-७

उ० ६-३-४-२; ६-३-५-२; ७-३-२

अथर्ववेद में भी यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग निम्ननिर्दिष्ट तथा अन्य सैंकड़ों मन्त्रों में है, जो पशुहिंसा निषेधसूचक है—

१-४-२; ४-२४-३; ५-१२-२; ३-१६-६; १८-२-२; १९-४२-४

से निकलने वाली गन्ध पहले से विद्यमान दुर्गन्धित वायु को अग्नि के समान हल्का करके निष्कासित नहीं कर सकती। अतः सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध भी नहीं रह जाती है और रिक्त स्थान न होने से शुद्ध वायु भी वहाँ प्रवेश नहीं कर पाती। स्थूल द्रव्य से चूर्ण में, चूर्ण से तरल में और तरल से वायुरूप में अधिक शक्ति होती है। मिर्च के खाने और आग में डालकर मिर्च को सूंघने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। अग्नि में डाले गये द्रव्य की शक्ति और उसका व्यापार क्षेत्र उसके सूक्ष्म होने से अनेक गुणा बढ़ जाता है।

यहाँ एक शंका उठती है—

न तद् द्रव्याणां विनाशात् ॥२३॥

द्रव्यों का नाश हो जाने से वह (होम से होने वाला लाभ) नहीं होगा।

अग्नि में डाले गए पदार्थ भस्म होकर तत्काल नष्ट होते देखे जाते हैं। तब होम से किसी प्रकार का लाभ कैसे सम्भव होगा ?

इसके समाधानार्थ अगला सूत्र है—

विनाशो बाह्येन्द्रियादर्शनम् ॥२४॥

बाह्य इन्द्रिय से न दीखना ही नाश है।

किसी पदार्थ का अत्यन्त नाश नहीं होता, केवल वियोग अथवा रूपान्तर होता है। नामरूप का अन्तर विनाश का द्योतक नहीं है। **नाश** शब्द **णश् अदर्शने** धातु से घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। अदृश्य हो जाने को ही लोक में नाश का नाम दे दिया जाता है। किसी पदार्थ के परमाणु जब अलग-अलग हो जाते हैं तो अत्यन्त सूक्ष्म हो जाने से दिखाई नहीं देते। परन्तु अलग-अलग होकर अदृश्य हो जाने पर भी वे आकाश में वर्त्तमान रहते हैं। **नाभावो विद्यते सतः** (गीता)—किसी भी द्रव्य का वस्तुतः से अभाव नहीं होता।

पूर्वपक्ष के रूप में एक अन्य शंका प्रस्तुत करते हैं—

किमर्थं मन्त्रोच्चारणम् ॥२५॥

यदि जलवायु की शुद्धि आदि के लिए ही यज्ञ किया जाता है तो मन्त्र पाठ से क्या लाभ ?

इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया है—

तत्तु वेदरक्षणयज्ञफलज्ञानेश्वरोपासनार्थम् ॥२६॥

वह तो वेद की रक्षा, यज्ञ से होने वाले लाभ का ज्ञान तथा ईश्वरोपासना के लिए है।

वेद मन्त्रों का बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ हो जाते हैं जिससे वेद

की रक्षा होती है। प्रकारान्तर से ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना होकर भक्तिभाव बना रहता है। इसके अतिरिक्त होम से होने वाले अनेक प्रकार के लाभों का ज्ञान भी होता जाता है।

यज्ञमात्रमहिसक एवाध्वरसंज्ञकत्वात् ॥२७॥

सभी यज्ञ हिंसारहित होते हैं, अध्वर नाम होने से।

निघण्टु पठित **ध्वृ** धातु हिंसार्थक है, **अध्वर** में उसका निषेध है। अर्थात् **नञ्** पूर्वक ध्वृ धातु से **घञ्** प्रत्यय होकर **अध्वर** शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार **यज्ञवाची** अध्वर शब्द से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी तरह की पशुहिंसा नहीं हो सकती। यज्ञों में पशुवध होने से उनके लिए अध्वर शब्द सार्थक नहीं हो सकता। अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं—

अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः (निरुक्त २-७)

अर्थात्—यज्ञ का नाम अध्वर है जिसका अर्थ हिंसा रहित कर्म है।

सब वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में अध्वर शब्द का प्रयोग सैकड़ों स्थानों पर पाया जाता है। यहाँ हम ऐसे कुछेक स्थलों का निर्देश करते हैं—

ऋग्वेद—१-१-४; १-१-८; १-१४-२१; १-१६-१; १-४४-१३; १-७४-१; -६३-१२; १-१०१-८; १-१२८-४; १-१३५-३; १-१५१-३ व ७; २-२-५; -१७-५; ३-२०-१व ५; ३-२४-२; ३-५४-१२; ४-२-१०; ४-६-६; ४-१५-२; ५-३७-१; ५-४-८; ५-२६-३; ५-२८-६; ५-४४-५; ६-२-३; ६-१६-२; ७-३-१; ७-४-१६; ८-३-५व ९; ८-२७-१; ८-३५-२३; ८-४६-१८; ८-५०-५; ८-६६-१; ८-७०-२; ८-७१-१२; ८-६३-२३; ६-६७-१; १०-७७-८; १०-२२-७

यजुर्वेद में यज्ञ के पर्याय अथवा विशेषण रूप में अध्वर शब्द का प्रयोग कम से कम ४३ स्थानों पर मिलता है। उदाहरणत :—

२-४; ३-११; ६-२३; ६-२५; १५-३८; २६-२६

सामवेद में भी यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग निम्नांकित तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में पाया जाता है—

पू० १-२-६; १-३-१; १-३-१२; २-२-६; १-६-७

उ० ६-३-४-२; ६-३-५-२; ७-३-२

अथर्ववेद में भी यज्ञ के लिए अध्वर शब्द का प्रयोग निम्ननिर्दिष्ट तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में है, जो पशुहिंसा निषेधसूचक है—

१-४-२; ४-२४-३; ५-१२-२; ३-१६-६; १८-२-२; १६-४२-४

संज्ञपनालम्भावदानमेधैः प्राणिवधानुपपत्तेः ।।२८॥

संज्ञपन, आलम्भ, अवदान तथा मेध शब्दों से प्राणिवध सिद्ध न होने से (यज्ञ हिंसा रहित होते हैं) ।

वेदों, उनके व्याख्यानग्रन्थ ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में अनेकत्र संज्ञपन शब्दका प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ मारना मानकर वैदिक साहित्य में सैकड़ों स्थानों पर स्पष्टतः हिंसा रहित कर्म के वाचक अध्वर नाम से अभिहित यज्ञों में पशुबलि के विधान की कल्पना कर ली गई है । यह शब्द सं पूर्वक णिजन्त ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है । देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि सं पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्भूयज्ञान आदि हैं । अथर्ववेद (६-७४-१,२) के निम्नलिखित मन्त्रों में संज्ञपन तथा संज्ञपयामि आदि का प्रयोग है । प्रकरण से स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ यहाँ ज्ञान देना, दिलाना या मेल कराना है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥
संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥

अर्थात्—तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मन सम्पृक्त हों, व्रत एक जैसे हों । ब्रह्मणस्पति कल्याणमय प्रभु ने तुम्हें एकत्र किया है । तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो, हृदयों में प्रेम हो । प्रभु के नाम पर किए श्रम से मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ ।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (काण्ड १ अ. ४) में एक आख्यायिका है जिसमें मन और वाणी के बीच बड़प्पन के लिए किये गये झगड़े का उल्लेख है । उसमें अन्त में कहा है—

अथ ह वागुवाच अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद् वेत्थाहं तद् विज्ञापयाम्यहं संज्ञपयामीति ।

वाणी कहती है—बड़ी तो मैं ही हूँ । तुझे तो ज्ञान ही ज्ञान है । तेरा वह ज्ञान किस काम का ? जो कुछ तू जानता है उसे प्रकट तो मैं करती हूँ । मैं ही उसे दूसरों को अच्छी प्रकार जतलाती हूँ—संज्ञपयामि ।

प्रायः अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है । संज्ञपन का अर्थ सम्यक् ज्ञान कराना तो है ही । यदि कथञ्चित् दुर्जनतोषन्याय से उसका अतिरिक्त अर्थ काटना भी मान लिया जाए तो भी सैन्धवमानय की तरह जो अर्थ प्रकरण संगत होगा वही माना जाएगा । अग्निषोम में पशुसंज्ञपन के पश्चात् वाचं ते शुन्धामि ··· चरित्रांस्ते शुन्धामि वाक् त आप्यायताम् आदि जितने शब्द हैं

सम्यक् ज्ञान के अधिक अनुकूल है। **चरित्रांस्ते शुन्धामि** (तेरा चरित्र सुधारता हूँ) की संगति पशुवध में नहीं, पशुप्रकृति मूढ बालकादि को सम्यक् ज्ञान कराने में ही हो सकती है।

यज्ञों में पशुहिंसा के समर्थक **अग्निषोमीयं पशुमालभेत प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते** (यजु० २४-२६) आदि वाक्यों को उद्धृत करते है। **आलम्भ** का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है। आङ् पूर्वक लभ् धातु से **आलम्भ** शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ स्पर्श करना या अच्छी प्रकार प्राप्त करना है। निघण्टु **अथवा** धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में आलभ् का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ में निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यं रसांस्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७६॥

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिंसा का सर्वथा निषेध करने वाले श्लोकों में स्त्रियों का आलम्भ न करने का अर्थ स्त्रियों का स्पर्श न करने के सिवा और क्या हो सकता है ?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणांसं अधिहृदयमालभते।

पारस्करगृह्यसूत्र (२-२-१६) के उपनयन प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है—आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। हरिहर, गदाधर आदि सभी भाष्यकारों ने **आलभते** का अर्थ **स्पृशति** किया है।

वरो वध्वा दक्षिणांसं अधि हृदयमालभते (विवाह प्रकरण)
कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन प्राशयेत् (जातकर्म)

पारस्करगृह्यसूत्र के उपर्युक्त वाक्यों तथा मीमांसादर्शन (२-२-.०) की सुबोधिनी टीका में आए **वत्सस्य समीप आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवतीति** वाक्य में सर्वत्र आलम्भ का अर्थ स्पर्श करना है। तब **प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते** का अर्थ 'प्रजापति (राजा) के लिए वीर पुरुषों तथा हाथियों को प्राप्त करता है' होगा। इसी प्रकार **अग्निषोमीयं पशुमालभेत** आदि ब्राह्मण वाक्यों में भी आलभेत स्पर्श अथवा प्राप्ति अर्थ का ही द्योतक होगा, न कि मारने का।

अवदान शब्द डुदाञ् दाने, **दो अवखण्डने**, **देङ् रक्षणे** आदि अनेक धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न-भिन्न निमित्तक हवि के लिए प्रयुक्त होता है। वर्त्तमान मीमांसक लोग इसे **दो अवखण्डने** से सिद्ध मानकर पशु के विविध अंगों को काट-काटकर यज्ञाग्नि में होम करते हैं। परन्तु शतपथ ब्राह्मण के पज्ञता

याज्ञवल्क्य स्वयं इस शब्द को देङ् रक्षणे से निष्पन्न मानते हैं। यह सन्दर्भ (शत० का० १-अ० ७) में आए तदेनांस्तदवदयते से स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य कहते हैं— **तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यदिंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम।** अर्थात् आहुतियों का नाम अवदान इसलिए है क्योंकि वे रक्षा करती हैं (ऋण के बन्धन से बचाती हैं)।

मुख्यत: यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेध, गोमेध, अजमेध, पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा विधान का भ्रम हुआ है। वस्तुत: वेदों में तो अश्वमेध शब्द के सिवा अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। मेधृ धातु के **मेधासंगमनयोर्हिंसायां** इस धातुपाठ के अनुसार शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा ये तीन अर्थ हैं। परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या का विधान सर्वथा असंगत है।

पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ तथा नृयज्ञ तीनों पर्यायवाची हैं। मनुस्मृति में नृयज्ञ की व्याख्या **नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्** (मनु० ३-७०) कहकर की गई है। नृयज्ञ वा नरमेध से यज्ञों में मनुष्य की बलि देना अभिप्रेत न होकर उत्तम विद्वानों की पूजा करना है। मेध धातु के संगमनार्थ को लेने से मनुष्यों का उत्तम कार्यों के लिए संगठित करना भी नृमेध के अन्तर्गत है। सामवेद में कुछ मन्त्रों का ऋषि नृमेध है। निश्चय ही वह मनुष्यों की बलि चढ़ाने वाला नहीं हो सकता। मनुष्यों में संगति करण वा मेलमिलाप बढ़ाने वाले की संज्ञा ही नृमेध हो सकती है।

अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को भी प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता। शतपथ ब्राह्मण (१३-१-६) में कहा है—**राष्ट्रं वा अश्वमेधः। वीर्यं वा अश्वः।** अर्थात् अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है। तब अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के वीर्य व बल की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है। यजुर्वेद (२३/१६-४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधरादि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है। वस्तुत: इन मन्त्रों के देवता गणपति, राजप्रजे, प्रजापति, प्रजा, श्री, विद्वांसः, सभासदः आदि हैं। इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का वर्ण्य विषय राष्ट्र और उसकी शासन व्यवस्था है। महाभारत के शान्तिपर्व (३-३३६) में महाराजा वसु के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था। उसके विषय में बड़ा स्पष्ट लिखा है—न तत्र पशुघातोऽभूत्। वहीं आगे चलकर अध्याय ३३७ में अजमेध के विषय में लिखा है—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम् इति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ ।
नैषः धर्मः सतां देवाः यत्र बध्येत वै पशुः ॥

अर्थात् वैदिक साहित्य में जब अजों से यज्ञों में होम करने को कहा जाता है तो वहाँ अज नामक बीजों से तात्पर्य होता है । बकरों का बध करना उचित नहीं । पशुओं की हत्या करना भले आदमियों का धर्म नहीं ।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में यत्र तत्र सर्वत्र गोवध को महापाप माना गया है । जैसे यज्ञ की संज्ञा अध्वर (हिंसारहित) है, वैसे ही गौ की संज्ञा **अघ्न्या** (न मारने योग्य) है । अतएव वेद में तथा अन्यत्र गोवध करने वाले के लिए मृत्युदण्ड दिए जाने का आदेश है । ऐसी अवस्था में गोमेध के नाम पर गौ की हत्या करने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । वस्तुतः गो शब्द अनेकार्थक है । इसलिए गोमेध के "वाणी का संस्कार करना, पृथिवी को कृषि योग्य बनाना, गौ से उपलब्ध होने वाले दूध घी आदि की वृद्धि करना, तथा उपलक्षण से पशुमात्र के पालन-पोषण की व्यवस्था आदि" अनेक अर्थ हो सकते हैं ।

पशवो वै धानाः ॥२९॥
धान्य ही पशु हैं ।

यज्ञ के प्रकरण में जहाँ कहीं पशु शब्द से सम्बन्ध रखने वाले नाम आए हैं उन सबका तात्पर्य अन्न से है, चतुष्पाद पशु से नहीं । वेद में अन्नमय पशु के होम का ही विधान है । द्व्यर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है उसका निराकरण वेदों तथा अन्य ग्रन्थों ने स्वयं कर दिया है । अथर्ववेद (१८-४-३२) में लिखा है—

धाना धेनुरभवद्वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत् ।

अर्थात् धान ही धेनु हैं और तिल उनके बछड़े हैं । धान अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिए अनेक धानों के नाम भी बता दिए गए हैं । अथर्ववेद में लिखा है—

एनीर्धाना हरिणी श्येनी रस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै ॥ अ० १८-४-३४ ॥

अर्थात् हरिणी, श्येनी, रस्या, कृष्णा और रोहिणी आदि धान, धेनु हैं । इनके तिलरूपी बछड़े हमें बल दें । इसी प्रकार मांस आदि शब्दों के विषय में अथर्ववेद में लिखा है—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषा ॥ अ० ११-३-५ ॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ११-३-७

अर्थात् चावल के कण अश्व हैं, चावल गौ हैं, भूसी मशक है, चावलों का श्याम भाग मांस और लाल भाग रुधिर है ।

अन्य सैंकड़ों शब्द ऐसे हैं जो आपाततः पशुओं के नाम प्रतीत होते हैं, परन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों में वे पशुसंज्ञक नाम तथा अवयव वनस्पतियाँ तथा औषधियां विशेष हैं। इतना ही नहीं, वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों (प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर) ने भी कतिपय द्व्यर्थक शब्दों का निर्वचन किया है। उदाहरणतः—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति।
यदाप आनयति अथ त्वग् भवति॥
यदा स यौत्यथ मांसं भवति।
एषा स संपद्याहुः पांक्तः पशुरिति॥

अर्थात् आटे की लोम संज्ञा है, पानी मिलने पर वह चर्म कहलाता है और गूँथे जाने पर उसकी संज्ञा मांस होती है। इस प्रकार पके हुए पदार्थ का नाम पशु है।

महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते॥

अर्थात् पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न पशु से ही यज्ञ करते थे। मद्यमांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है। वेदों में यह कहीं नहीं है।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥३०॥
और श्रुति से भी (यज्ञों का हिंसारहित होना) प्रमाणित है।

वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं जिनमें स्पष्टतः पशुओं की रक्षा का निर्देश है। यजुर्वेद के प्रारम्भ (१-१) में ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है—**पशून् पाहि**, पशुओं की रक्षा करो। इसी मन्त्र में गौ को अघ्न्या (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद (६-११) में पति पत्नी के लिए उपदेश है—**पशूंस्त्रायेथाम्** पशुओं की रक्षा करो। यजुर्वेद (१४-८) में आदेश दिया है—**द्विपादव चतुष्पात् पाहि** अर्थात् दो पैर वालों (मनुष्यादि) तथा चार पैरों वालों (पश्वादि) की रक्षा करो।

पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वाक्य भी यत्र तत्र अनेकत्र मिलते हैं। उदाहरणत :—

गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। यजु० १३-४३
इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्। यजु० १३-४७

इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । यजु० १३-४८
मा गामनागामदितिं वधिष्ट । ऋग्० ८-१०१-१५
अन्तकाय गोघातकम् । यजु० ३०-१८
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ अथर्व० १-१-६४
यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
योऽघ्न्या भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥
ऋग्० १०-८७-१६

इन मन्त्रों में न केवल पशुमात्र की हिंसा का स्पष्ट निषेध है, बल्कि पशुवध करने वाले के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था है ।

अष्टम अध्याय

वेदाध्ययन में अधिकार

मनुष्यमात्रस्याधिकारो वेदाध्ययने पृथिव्याद्युपभोगवत् ॥१॥

पृथिवी आदि के उपभोग के समान वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार है।

जैसे द्विजाति, वैसे ही शूद्र भी भगवान् की उत्पादित प्रजा हैं। पृथिवी जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, औषधि, वनस्पति अन्नादि सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं उनके उपभोग का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त है। इसी प्रकार ईश्वर के दिये ज्ञान वेद का अध्ययन कर तदनुकूल आचरण करने का अधिकार भी मनुष्यमात्र को है। भगवान् की दृष्टि में सब बराबर हैं। ईश्वरीय विधान में अवसर की समानता सबको प्राप्त है। उससे लाभ उठाना प्रत्येक जीव के अपने अपने सामर्थ्य पर निर्भर है।

जीवात्माओं के कल्याण के लिये वेदादि शास्त्रों का उपदेश है। परन्तु उनके अध्ययन और समझने का सामर्थ्य जीवात्मा को मनुष्ययोनि में पहुँच कर ही प्राप्त होता है। इसलिये केवल मानव का शास्त्र में अधिकार है, अन्य प्राणियों को नहीं। तब, इस योनि को प्राप्त करलेनेवाले जीवात्माओं में से किसी को शास्त्रज्ञान से और वह भी सबके पिता स्वयं भगवान् के ज्ञान वेद से वंचित कर देना कितना बड़ा अन्याय होगा ॥१॥

फिर भी कुछ लोगों का कहना है—

न श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेः ॥२॥

स्मृति के अनुसार श्रवण, अध्ययन और अर्थ (अनुष्ठान) का निषेध होने से (सबको वेदाध्ययन का अधिकार) नहीं ॥२॥

सबका अधिकार न होने में एक और हेतु देते हैं—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेश्च ॥३॥

तथा शूद्र न पढ़ें, इस श्रुति से (सबको वेदाध्ययन अथवा अध्ययनमात्र का अधिकार नहीं) ॥३॥

अब पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत इन आपत्तियों का निराकरण करते हैं—

प्रतिषेधनमसूयकादेः ॥८॥

असूयक आदि के लिए निषेध है।

जहां कहीं निषेध किया है वहां उसका इतना ही अभिप्राय है कि जो कोई ब्रह्मचर्य के अभाव, बौद्धिक दोष, चरित्रहीनता, उद्दण्डता आदि के कारण वेदाध्ययन के लिये अनुपयुक्त हो उसे पढ़ाना व्यर्थ है। यह घोषणा होने पर भी कि "इस संस्था के द्वार सबके लिये खुले हैं" उसमें प्रविष्ट होने के लिये निर्धारित न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता, बौद्धिक स्तर आदि की शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। इस मान्यता का आधार वेदान्तदर्शन का **श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च** यह सूत्र (१-३-३८) माना जाता है। वस्तुतः इस सूत्र में अथवा इसके आसपास कहीं भी इस दूषित कल्पना का लेश भी नहीं है। अनुभवी शिक्षाशास्त्रियों ने कतिपय ऐसे दोषों—ईर्ष्या, असूया, चपलता, मद, मोह, गुट बनाना, उद्दण्डता, अध्ययन में अरुचि आदि का निर्देश किया है जो विद्याभ्यास में बाधक होते हैं। प्रस्तुत सूत्र से पूर्व के कुछ सूत्रों में विस्तारपूर्वक उनका विवेचन किया गया है। इस विषय में स्मृतियों में सर्वाधिक प्रामाणिक मनुस्मृति (२-११४) में कहा है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥

विद्या ने ब्राह्मण-वेदवेत्ता के पास जाकर कहा—"मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर। असूया करने वाले को मुझे मत दे। मेरी शक्तिमत्ता एवं सार्थकता इसी में है।" इसी भाव को निरुक्त (२-१-४) में इन शब्दों में उद्धृत किया है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

यही बात गीता (१८-६७) में किंचिद् भिन्न शब्दों में कही गई है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहिये जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति भक्ति न रखता हो, आचार्य के प्रति जिसमें सेवा भाव न हो तथा जो ईश्वर के प्रति आस्तिक बुद्धि रखने वाला न हो।

उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। अध्येता अथवा जिज्ञासु में अपेक्षित गुणों का होना इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि इनके न होने पर मनुस्मृति में निर्देश किया गया है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥

ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाये, पर घोर विपत्ति में भी इसे ऊसर में न बोये, अर्थात् अनधिकारी को विद्या न दे।

यहां केवल यह बताना अभिप्रेत है कि मनुष्यमात्र में शास्त्र के अध्ययन श्रवण में कौन व्यक्ति अधिकारी है, कौन नहीं। अधिकार का आधार कुछ विशिष्ट गुण हैं न कि किसी वर्णविशेष में जन्म। शूद्रकुल में जन्म लेने के कारण किसी के वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का कहीं सकेत तक नहीं है। हां, **हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्** (१-३-२५) से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्तसूत्रकार वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार मानता है।

इस एक सूत्र को न समझ कर पौराणिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर इतना बड़ा अनर्थ कर डाला कि उसके कारण सभ्य मानवसमाज में वैदिकधर्माभिमानी लोगों का मुंह काला हो गया। सबसे अधिक खेद और आश्चर्य का विषय यह है कि इस अनर्थ के प्रयोजक चराचर जगत् (जिसमें द्विजों के साथ साथ शूद्र और स्त्रियां सभी सम्मिलित हैं) को एक ब्रह्म का ही रूप मानने वाले जगद्गुरु शंकराचार्य थे। उक्त सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा—

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधो भवति, वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत्—अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम् इति पद्युह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति च। अतएवाऽध्ययनप्रतिषेधः यस्य हि समीपेऽपि नाऽध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः इति। अतएव चाऽर्थार्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—न शूद्राय मतिं दद्यात् इति द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम् इति च।

अर्थात्—इससे भी शूद्र का विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके श्रवण, अध्ययन और अर्थ का निषेध करती है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद के श्रवण, वेद के अध्ययन और वेदार्थ के ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। इसलिये समीप से वेद का श्रवण करने वाले शूद्र के कानों को सीसे और लाख से भर दे। शूद्र चलता फिरता श्मशान है इसलिये शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार श्रवण का निषेध है। फिर वह अध्ययन कैसे कर सकता है! यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिये। यदि वेद को याद करे तो शरीर के टुकड़े टुकड़े कर देने चाहियें। इसी हेतु से कि शूद्र के लिये अध्ययन एवं अनुष्ठान का निषेध है, ब्राह्मण को चाहिये कि शूद्र को ज्ञान न दे। अध्ययन यज्ञ और दान का विधान द्विजों के लिये ही है।

रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि सभी पौराणिक आचार्यों ने आद्य शंकराचार्य की ही पुष्टि की है। परन्तु ये सब अर्थ इन आचार्यों की निकृष्ट एवं अवैदिक विचारधारा के परिचायक हैं। आर्ष साहित्य में कहीं से भी इनका समर्थन नहीं होता ॥४॥

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतिः कल्पनाप्रसूतैव ॥५॥

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतिः यह कल्पित वचन ही है।

वेद के नाम पर प्रचलित इस वचन को प्रस्तुत करके प्रायः स्त्रियों तथा शूद्रों के वेद पढ़ने पढ़ाने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया जाता रहा है। वास्तव में वेद में ही नहीं, अन्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में भी यह वचन उपलब्ध नहीं है। अतः यह स्वार्थी तथा धूर्त लोगों की ही कपोलकल्पना है जिसके आधार पर विश्व की लगभग तीन चौथाई मानवजाति को वेदज्ञान से वंचित रखने की घृणित चेष्टा की जाती रही है। इस वचन के सर्वथा विपरीत, वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार का प्रतिपादन वेद में स्पष्ट मिलता है ॥५॥

यथेमां वाचमिति साक्षाच्छ्रुतिवचनात् ॥६।

यथेमां वाचम्——इस साक्षात् श्रुतिवचन से (स्त्रीशूद्रौ···) वचन कल्पित सिद्ध हो जाता है)।

यजुर्वेद (२६-२) का मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥

परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं अपनी कल्याणकारिणी वेदवाणी का मनुष्यमात्र के लिये उपदेश करता हूँ, वैसे ही तुम भी किया करो। मैंने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों तथा अतिशूद्रों आदि सभी के लिये वेदों का प्रकाश किया है।

इस मन्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त वेदवाणी पर जैसा अधिकार ब्राह्मण को प्राप्त है, वैसा ही अन्य सबको है। मनुष्यों में सर्वोपरि आप्त पुरुष मनु हैं और मनु की दृष्टि में **प्रमाणं परमं श्रुतिः**—वेद से बढ़ कर दूसरा प्रमाण नहीं। ऐसी अवस्था में स्वयं वेद द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार की घोषणा के पश्चात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती ॥६॥

इस मान्यता को कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों से भी बल मिलता है—

कवषैलूषोपाख्याननिदर्शनात् ॥७॥

कवष, ऐलूष आदि के उदाहरण से।

इतिहास में कवष, ऐलूष आदि अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम मिलते हैं जिन्होंने शूद्रकुल में उत्पन्न होकर ऋषित्व को प्राप्त किया। वेद पढ़ने का अधिकार न होता तो वेद कैसे पढ़ते ? और पढ़े बिना मन्त्रों का अर्थात् मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष कैसे

करते ? ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्या ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता दासीपुत्र महीदास था। शूद्रकुलोत्पन्न मातङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणत्व प्राप्ति इतिहास में प्रसिद्ध है। **शूद्रो ब्राह्मणतामेति** (मनु. १०-६५)— शूद्र की ब्राह्मणत्व प्राप्ति शास्त्रसम्मत है, परन्तु ब्राह्मणत्वप्राप्ति वेदज्ञान के बिना संभव नहीं। इस युक्ति से भी वेदाध्ययन में सबका अधिकार स्वतः सिद्ध है ॥७॥

सर्वत्वमाधिकारिकमिति मीमांसावचनात् ॥८॥

'**सर्वत्वमाधिकारिकम्**' ऐसा मीमांसावचन होने से।

कर्मकाण्ड मीमांसाशास्त्र का विषय है। मनुष्ययोनि ही एकमात्र ऐसी योनि है जिसके लिये शास्त्र का प्रवचन है। मृत्यु से प्राणिमात्र छूटना चाहते हैं। उसका एकमात्र उपाय ब्रह्मविद्या है और उसे प्राप्त करने का साधन वेदाध्ययन है। इसी लिये मीमांसाशास्त्र ने वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार स्वीकार किया है ॥८॥

पुमान् स्त्रियः ॥९॥

पुरुषों के समान स्त्रियां हैं।

वेद ने **जनेभ्यः**=मनुष्यमात्र के वेदाध्ययन में अधिकार की घोषणा की है। जन पद स्त्री-पुरुष दोनों का वाचक है। फिर जब शूद्रों और अतिशूद्रों तक को वेदज्ञान का अधिकार है तो स्त्रियों ने ही क्या अपराध किया है ? द्विजपत्नी होने से उन्हें वेदों के अध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त है। पूर्वकाल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन करती थीं। **निर्णयसिन्धु** के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

> **पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।**
> **अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ॥**

स्त्रियों के उपनयन में स्वयं वेद का प्रमाण भी है—**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता** (ऋ.१०-१०९-४)। उपनयन के साथ ही यज्ञ में अधिकार होजाता है। श्रौतसूत्रादि में लिखा है—**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्** अर्थात् यज्ञ में इस मन्त्र को पत्नी पढ़े। मन्त्र का पाठ भी सस्वर होना चाहिये। यह सब तभी संभव है जब स्त्रियां वेद पढ़ी हों। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१-११) में लिखा है—**पत्नी वाचयति मेध्यामेवैनां करोति वेदं पत्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि**। इसी विषय में तैत्तिरीय ब्राह्मण (१-६-५-६) का वचन है—**यत्पत्नी पुरोऽनुवाक्यमनुब्रूयात्**। पत्नी द्वारा मन्त्रवाचन तभी संभव है जब वह वेदाध्ययन में पारङ्गत हो, क्योंकि मीमांसाशास्त्र का स्पष्ट आदेश है—**ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति**। अर्थात् विद्वान् से मन्त्रपाठ कराये। अज्ञानी से मन्त्रपाठ कराना शास्त्रविरुद्ध है।

प्राचीन काल में गार्गी, मैत्रेयी, भारती देवी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं। वैदिक साहित्य में इनका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। अदिति, लोपामुद्रा आदि

के नाम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में वेदमन्त्रों के साथ आज भी उपलब्ध हैं। मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए शास्त्रार्थ की मध्यस्थता मण्डनमिश्र की पत्नी भारतीदेवी ने की थी। शंकरदिग्विजय में भारती देवी के विषय में लिखा है—

शास्त्राणि सर्वाणि षडंगवेदान् ।
काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वम् ॥१३-११॥

अर्थात् भारतीदेवी छः शास्त्रों तथा छः अंगों सहित चारों वेदों और सम्पूर्ण काव्यादि ग्रन्थों को जानती थी। इतना ही नहीं, **तन्नास्ति न वेत्ति यदत्र बाला**— ऐसा कोई विषय नहीं था जिसका उसे ज्ञान न हो। भारतीदेवी के सामने शंकराचार्य को निरुत्तर होना पड़ा था। शायद वे इस अपमान को भुला नहीं पाये। अपनी प्रश्नोत्तरी में सम्पूर्ण स्त्री जाति के विरुद्ध जो भयंकर विषवमन उन्होंने किया उसके मूल में यही कारण प्रतीत होता है। जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य के सामने जब सब विद्वान् परास्त होते जा रहे थे तो वाचक्नवी गार्गी ने कितने आत्म-विश्वास और गर्व के साथ कहा था— **ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।** अर्थात्— हे ब्राह्मणों मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी। यदि इन्होंने उनका उत्तर दे दिया तो आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता को न जीत सकेगा।

स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन का प्रतिषेध करने से पत्नियां वेदज्ञान से वंचित हो गईं। उनके वैदिक ज्ञानरूप संस्कार के अभाव से उनकी सन्तान भी वैदिक संस्कार से रहित हो गई ॥६॥

विषय-निर्देशिका